द्वितीय अध्याय

जैन धर्म में भक्ति की अवधारणा

जैन धर्म में भक्ति की अवधारणा

जैन धर्म में भक्ति की अवधारणा उसकी धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि के आधार पर निर्मित हुई है। इसलिए इस पृष्ठभूमि को सन्दर्भ में रख कर ही 'जैन धर्म में भक्ति की अवधारणा' पर विचार करना उपयुक्त होगा। आगे के पृष्ठों में इन्हीं आधार-बिन्दुओं को सन्दर्भ में रख कर विचार और विश्लेषण किया जायेगा। भक्ति से सम्बन्धित अनेक प्राचीन शब्द प्राप्त होते हैं, उनसे भक्ति के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अतएव उसी शब्दावली के माध्यम से भक्ति की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

भक्ति

'भक्ति' शब्द 'भज्' सेवायाम् धातु में क्तिन् प्रत्यय जोड़ कर बनता है।[१] अर्थात् भक्ति का शब्दार्थ सेवा है और सेवा का अर्थ है विनय --'सेवायां भक्तिर्विनयः सेवा'[२]। सेवा का आधार बिन्दु है आराध्य में अनुराग और श्रद्धा। अनुराग और श्रद्धा से ही उसके प्रति विनय का भाव जागृत होता है और आराधक अपने आराध्य की विविध प्रकार से सेवा में प्रवृत्त होता है।

अनुराग

पूज्यपाद ने भक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है कि अरहंत, बहुश्रुत आचार्य और प्रवचन में भावशुद्धि युक्त अनुराग ही भक्ति है।[३]

सोमदेव का कथन है कि जिन, जिनागम और तप तथा श्रुत में पारायण आचार्य में सद्भाव विशुद्धि से सम्पन्न अनुराग भक्ति कहलाता है।[३क]

१- अष्टाध्यायी, ३।३।९४

२- पाइअ सद्द महण्णव, पृ० ७९६
अभिधान राजेन्द्र कोश, पृ० १३६५

३- सर्वार्थसिद्धिः, ६।२४

३क-उपासकाध्ययन

अनुराग की इस उत्कटता को अभिव्यक्त करने के लिए पुत्र के प्रति माता, सुर के प्रति सुनारी तथा कामिनी के प्रति कामी का दृष्टान्त दिया जाता है। जैन कवि आनन्दघन ने भक्ति पर लिखते हुए कहा है, "जिस प्रकार उदर-भरण के लिए गौयें वन में जाती हैं, घास चरती हैं, चारों ओर फिरती हैं, पर उनका मन अपने बछड़ों में लगा रहता है, वैसे ही संसार के कामों को करते हुए भी भक्त का मन भगवान् के चरणों में लगा रहता है"[३स]। एक दूसरे स्थान पर उन्होंने तुलसीदास की भांति कहा कि जिस प्रकार कामी का मन, अन्य सब सुख-दुख खो कर कामवासना में ही तृप्त होता है, अन्य बातों में उसे रस नहीं मिलता, वैसे ही प्रभु नाम और स्मरणादि रूप भक्ति में भक्त की अविचल अनन्य निष्ठा होती है। उसका मन बिना भगवान् के अन्यत्र कहीं भी नहीं जाता।[४]

जैन परम्परा में अर्हत् या परमात्मा को वीतरागी माना गया है। वह सब प्रकार के रागों से उन्मुक्त होने का उपदेश देता है। राग कैसा ही हो कर्मों के आस्रव बन्ध का कारण है। उस भगवान् में, जो स्वयं वीतरागी है, राग कैसे सम्भव है?

इसका उत्तर देते हुए समन्तभद्र ने लिखा है कि पुण्य भगवान् जिनेन्द्र की पूजा करते हुए, अनुराग के कारण जो लेशमात्र पाप का उपार्जन होता है, वह बहुपुण्य-राशि में उसी प्रकार दोष का कारण नहीं बनता, जिस प्रकार कि विषक की एक कणिका शीत-शिवाम्बुराशि को-ठंडे कल्याणकारी जल से भरे हुए समुद्र को दूषित करने में समर्थ नहीं होती[५]। अर्थात् जिनेन्द्र में अनुराग करने से लेश-मात्र ही सही, पाप तो होता है किन्तु पुण्य इतना अधिक होता है कि वह सम्भ रंचमात्र पाप उसको दूषित करने की सामर्थ्य नहीं रखता।

३स- आनन्दघन पद संग्रह, पद १,४

४- तुलना -- रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड १३०

५- स्वयम्भू स्तोत्र, का० ५८

कुन्दकुन्द ने वीतरागियों में अनुराग करने वालों को सच्चा योगी कहा है[६]। उनका यह भी कथन है कि आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में प्रीति करने वाला सम्यग्दृष्टि ही जाता है[७]।

वीतरागी में अनुराग की व्याख्या एक अन्य प्रकार से भी की जा सकती है। पर में होनेवाला राग ही बन्ध का हेतु है। वीतरागी परमात्मा 'पर' नहीं, अपितु स्व आत्मा ही है। जोइन्दु का कथन है कि मोक्ष में रहने वाले भगवान् सिद्ध और देह में तिष्ठने वाले आत्मा में कोई भेद नहीं है[८]। आत्मा ही शुद्ध हो कर परमात्मा बन जाता है[९]। परमानन्द स्वभाव वाला भगवान् जिनेन्द्र ही परमात्मा है और वही आत्मा है[१०]। अतः जिनेन्द्र में अनुराग करना, अपनी आत्मा में ही प्रेम करना है। आत्म-प्रेम का अर्थ है आत्म-सिद्धि, जिसे मोक्ष कहते हैं।

पूज्यपाद ने आठ कर्मों का नाश कर, आत्म स्वभाव को साधने वाले भगवान् सिद्ध से मोक्ष की प्रार्थना की है। उन्होंने ही यह भी लिखा है कि भगवान् जिनेन्द्र का मुख देखने से ही मुक्तिरूपी लक्ष्मी का मुख दिखाई देता है अन्यथा नहीं[११]।

वही राग 'बंध' का कारण है, जो सांसारिक स्वार्थ से प्रेरित हो कर किया गया हो। निष्काम अनुराग में कर्मों को बांधने की शक्ति नहीं होती। वीतराग में किया गया अनुराग निष्काम ही है, उसमें किसी प्रकार की कामना सन्निहित नहीं है। 'वीतरागता' पर रीझ कर ही भक्त ने वीतरागी में अनुराग किया है। इसके उपलब्ध में यदि वीतरागी भगवान् अपने भक्त में अनुराग करने लगें तो भक्त का

६- मोक्षपाहुड, गा० ५२

७- समयसार, गा० २३५

८- परमप्पपयासु, दो० २६

९- वही, दो० १७४

१०-वही, दो० १६७

११- सिद्धभक्ति, श्लो० १

रीझना ही समाप्त हो जायेगा । वह भगवान से अपने ऊपर न दया चाहता है, न अनुग्रह और न प्रेम ।

श्रद्धा

जैन शास्त्रों में श्रद्धा का महत्वपूर्ण स्थान है । उमास्वाति ने तत्वार्थ के श्रद्धान् को[१२] तथा समन्तभद्र ने आप्तादि के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है[१३] । सम्यग्दर्शन मोक्ष का साधन है । दर्शन शब्द `दृशि` धातु से बना है, जिसका अर्थ देखना होता है । `दर्शन` को श्रद्धान अर्थ में प्रयुक्त करने का स्पष्टीकरण भट्टाकलंक ने तत्वार्थवार्तिक में किया है[१४], `धातुओं के अनेकार्थ होते हैं अत: उनमें से `श्रद्धान` अर्थ भी ले लिया जायेगा। यद्यपि यहां मोक्ष का प्रकरण है, अत: दर्शन का अर्थ देखना इष्ट नहीं, तत्व श्रद्धान ही इष्ट है ।

कुन्दकुन्द ने लिखा है कि आत्मदर्शन ही सम्यग्दर्शन है । अकलंक का मत है कि आत्मा का दर्शन तब तक नहीं हो सकता, जब तक वैसा करने की श्रद्धा जन्म न ले । श्रद्धापूर्वक किया गया प्रयास ही `आत्म-दर्शन` कराने में समर्थ होगा अत: दर्शन का पहला अर्थ श्रद्धान है,दूसरा साक्षात्कार। जिनेन्द्र में श्रद्धा करना वास्तव में आत्मश्रद्धा ही है । जिनेन्द्र का स्वभाव रागादि से रहित, शुद्ध आत्मा का स्वभाव है । इस भांति जो अर्हन्त को जानता है, वह अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को ही जानता है, और जो अर्हन्त के स्वरूप में स्थिर रहता है, वह अपने आत्मस्वरूप में ही स्थिर रहता है ।[१५]

सेवा।वैयावृत्य

भक्ति का अर्थ सेवा किया गया है । सेवा के लिए प्राचीन शब्द `वैयावच्च` है । कुन्दकुन्द ने अपने प्राकृत ग्रन्थों में वैयावच्च को भक्ति कहा है । उनका कथन है कि

१२- तत्वार्थसूत्र, १।२

१३- रत्नकरण्डक, का० ४

१४- तत्वार्थवार्तिक, १।२, ३।४

१५- भावती आराधना,गा० ४६

भक्ति के राग से नित्यकाल अपनी शक्ति भर जिन भक्ति में उत्कृष्ट, दश प्रकार का वैयावृत्य करो।[१६] यह वैयावृत्य भगवान् की सेवा ही है।

समन्तभद्र ने लिखा है कि, "गुणानुराग से संयमियों की आपत्तियों को दूर करना उनके चरणों को दबाना तथा उनका और भी जो उपग्रह है -- वैयावृत्य कहा जाता है।"[१७] उन्होंने वैयावृत्य में ही "देवाधिदेवचरणे परिचरणं" को गिना है।

शिवार्य ने प्राकृत ग्रन्थ भगवती आराधना में लिखा है, "अरहन्त भक्ति, सिद्धभक्ति, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु भक्ति और निर्मल धर्म में भक्ति, ये सब वैयावृत्य से होती हैं। इसलिए रत्नत्रय के धारण करने वालों की वैयावृत्य करना सब धर्म के नायकों की भक्ति करना है।[१८]

सामायिक

भक्ति के सन्दर्भ में एक प्राचीन शब्द "सामायिक" है। सामायिक के जो विवरण प्राप्त होते हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि इस शब्द का अर्थ विस्तार हुआ है।

षडावश्यकों में सर्वप्रथम सामायिक की गणना की जाती है। कुन्दकुन्द ने सामायिक को प्रथम शिक्षाव्रत माना है -- सामाइयं च पढमं। (बोधपा० २५)

श्रुतसागर ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि चैत्य-पंचगुरुभक्ति-समाधिपूर्वं दिनं प्रति एक वारं द्विवारं त्रिवारं वा व्रत प्रतिमायां सामायिकं भवति।

उवासगदसाओ में सामायिक को प्रथम शिक्षाव्रत कहा गया है। वास्तव में सम्पूर्ण श्रावकधर्म को ही सामायिक शब्द से अभिहित किया गया है --

अयमाउसो आगार-सामइए धम्मे पण्णत्ते। -- उपासग० १।११

१६- भावपाहुड़, गा० १०५

१७- रत्नकरण्डक, का० ११६

१८- भगवती आराधना, गा० २२

सोमदेव ने आप्त की सेवा के उपदेश को `समय` और उसके निर्धारित कार्यों को `सामायिक` कहा है । उन्होंने गृहस्थोंके लिए छह क्रियाओं का भी निर्देश किया है[१९]-- १- स्नपन, २- प्रजन, ३- स्तोत्र, ४- जप, ५- ध्यान, ६- श्रुतस्तव ।

सामायिक की दार्शनिक व्याख्या करते हुए लिखा गया है -- अपने आत्मा में तथा सर्व जीवों में समभाव अर्थात् समता परिणाम ऐसा होता है -- मोक्षस्थान में जैसे सिद्ध भगवान हैं वैसे ही मेरा आत्मा भी सिद्ध परमेश्वर के समान शुद्ध-शुद्ध एक स्वभावी है । और जैसा केवलज्ञानस्वभावी मैं हूं वैसी सर्वजीव राशि है[२०]। यहां भेद नहीं करना चाहिए ।

पूज्यपाद ने लिखा है, `सम` उपसर्ग का अर्थ एक रूप है । जैसे घी संगत है, तेल संगत है, जब यह कहा जाता है तब संगत का अर्थ एकीभूत होता है । सामायिक में मूल शब्द `समय` है, जिसका अर्थ है एक साथ जानना व गमन करना । वह समय ही सामायिक है । अथवा समय अर्थात् एक रूप हो जाना है जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है[२१] ।

आराधना

प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों में भक्ति के अर्थ में `आराहणा` संस्कृत आराधना शब्द भी आता है । आराधना का अर्थ विनय, भक्ति, उपासना, साधना आदि किया गया है । इस विषय पर छोटे-बड़े अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं । प्राकृत ग्रन्थ भगवती

१९- आप्तसेवोपदेश: स्यात्समय: समयार्थिनाम् ।
निगदितं तत्र यत्कर्म तत्सामायिकमुच्यते ।।
स्नपनं प्रजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तव: ।
षोढाक्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम् ।।-- उपासकाध्ययन, आ० ८

२०- आत्मनु सर्वजीवेषु समभाव: समतापरिणाम:, यादृशो मोक्षस्थाने सिद्धो वर्तते तादृश एव ममात्मा शुद्धशुद्धैकस्वभाव: सिद्धपरमेश्वरसमान:, यादृशोऽहं केवलज्ञानस्वभावस्तादृश एव सर्वोऽपि जीवराशिरत्र भेदो न कर्तव्य: ।--मो०पा०टी।५०।३४२।१२

२१- सर्वार्थसिद्धि, ७।२१

आराधना में आराधना का विस्तार से वर्णन है । वहां आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से आराधना का विवेचन किया गया है । लिखा है -- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप इन चारों का यथायोग्य रीति से उद्योतन करना, उनमें परिणति करना, इनको दृढ़तापूर्वक धारण करना, उनके मन्द पड़ जाने पर पुनः पुनः जागृत करना, उनका आमरण पालन करना सो (निश्चय) आराधना कहलाती है ।[२२]

आशाधर ने लिखा है कि जिसके सम्यग्दर्शनादिक परिणाम उत्पन्न हो चुके हैं, ऐसे पुरुष की उन सम्यग्दर्शनादिक में रहने वाले अतिशयों अथवा उद्योतादिक विशेषों में जो वृत्ति उसी को दर्शनादिक की भक्ति कहते हैं । और इसी भक्ति का नाम ही आराधना है ।[२३]

वास्तव में तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप, ये चारों आत्मा में निवास करते हैं इसलिए आत्मा ही आराधनीय है ।[२४]

आवश्यकों के वर्णन में कहा गया है कि सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, ये छह आवश्यक सदा करने चाहिए ।[२५]

आवश्यक की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि जो कषाय राग-द्वेष आदि के वशीभूत न हो वह अवश है, उस अवश का जो आचरण वह आवश्यक है ।[२६]

आवश्यकों को नित्य नियम पूर्वक करने के सम्बन्ध में मूलाचार में लिखा है कि ऐसे क्रिया कर्म को करे जिसमें दो अवनति (भूमि को छूकर नमस्कार) हैं, बारह

२२- भगवती आराधना, गा० २

२३- वृत्तिर्वातत्पुरुष्यादेस्तद्गतातिशयेषु या ।
उद्द्योतादिषु सा तेषां भक्तिराराधनोच्यते ।।-- अन० ध०।१।६८

२४- द्र०सं०।टी०।५४।२२२

२५- समदा थवो य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं ।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि ।।-- मू० आ० २२०

२६- ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासगं ति बोधव्वा । -- वही, ५१५

आवर्त हैं, मन वचन काय की शुद्धता से चार शिरोनति हैं, इस प्रकार उत्पन्न हुए बालक के समान करना चाहिए। मन, वचन, काय से शुद्ध, द्रव्य क्षेत्र यथोक्त काल में नित्य ही मौन कर निराकुल हुआ साधु आवश्यकों को करे।[२७]

कृतिकर्म

जिनदेव, सिद्ध और आचार्य वन्दना करते समय जो क्रिया की जाती है, उसे कृतिकर्म कहते हैं[२८]। चार प्रकार के कर्म इस प्रकार बताये गये हैं -- १- कृतिकर्म, २- चितिकर्म, ३- पूजाकर्म, ४-विनयकर्म।

जिससे आठ प्रकार के कर्मों का छेदन हो वह कृतिकर्म है, जिससे पुण्यकर्म का संचय हो वह चितकर्म है, जिससे पूजा करना वह माला चन्दन आदि पूजा कर्म है, नम्रता का करना विनयकर्म है। १- वह क्रिया कर्म कौन करे, २- किसका करना, ३- किस विधि से करना, ४- किस अवस्था में करना, ५- कितनी बार करना (कृतिकर्म विधान), ६- कितनी अवनतियों से करना, ७- कितनी बार मस्तक में हाथ रख कर करना, ८- कितने आवर्तोंसे शुद्ध होता है, ९- कितने दोष रहित कृतिकर्म करना (अतिचार) इस प्रकार सौ प्रश्न करने चाहिये।[२९]

विनय

मक्ति में विनय का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। दार्शनिक

२७- दोसावं तु णमाणावं बारसावत्तसंजुदं। चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे॥ तियरणसव्वविसुद्धो दव्वं खेत्ते जधुत्तकालम्हि। मोणेणाब्भासत्थो कुज्जा आवासयापरिहीणं। -- मू० चा०, ६०१, ६८६

२८- जिण-सिद्धाइरियं बहुसुदेसु वंदिज्जमाणेसु जं कीरइ कम्मं तं किदियम्मं णाम। ध० पा०।१।१, १।१।९८।२

२९- किदियम्मं चिदियम्मं पूजाकम्मं च विणयकम्मं च। कादव्वं केण कस्स कथं व कहिं व कदि खुत्तो। कदि ओणदं कदि सिरं कदिदो आवत्तीहिं परिसुद्धं। कदि दोसविप्पमुक्कं किदियम्मं होदि कादव्वं॥--मू० चा०। ५७५-५७६। ५७७

और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से इसका विवेचन किया गया है।प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश में इसका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। बाद के कवियों ने भी इसे वही महत्व प्रदान किया है।

भक्ति में विनय का प्रधान स्थान है। वास्तव में भक्ति का प्रारम्भ विनय से ही होता है। अपने रत्नत्रय रूप गुण की विनय ही वास्तविक विनय है। रत्नत्रय-धारियों की विनय व्यवहार-विनय है। इसे उपचार-विनय भी कहा गया है।

विनय कर्ममल को नाश करता है --`विलयं नयति कर्ममलमिति विनयः।`

भगवती आराधना में विनय का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। विनय की दार्शनिक विवेचना के साथ-साथ उपचार विनय का भी विस्तृत विवेचन किया गया है।

इस प्रकार ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचार-विनय के भेद से विनय के चार भेद किये गये हैं।

अर्धमागधी आगम उत्तराध्ययन में प्रथम अध्ययन `विनयश्रुत` नामक ही है। इस सन्दर्भसे विनय का महत्व आंका जा सकता है।

दशवैकालिक के नवम अध्ययन में चार उद्देश्यों में विणय समाही का विस्तार से वर्णन है।वहांविनयसमाधि के चार स्थान बताये गये हैं[30] -- १- विणयसमाही, २- सुयसमाही, ३- तवसमाही, ४- आयारसमाही।

कुन्दकुन्द ने लिखा है कि मन, वचन और काययोग से पांच प्रकार के विनय[31] का पालन करो, क्योंकि अविनयी मनुष्य तीर्थंकर पद तथा मुक्ति को नहीं पाते।

पूज्यपाद ने पूज्य जनों में आदरभाव को विनय कहा है।[32]

३०- विणये सुए अ तवे आयारे णिच्चं पंडिया।
अभिरामयंति अप्पाणं जे भवंति जिइंदिया।।-- दशवै०, ९।४।३

३१- भावपाहुड, १०४

३२- सर्वार्थसिद्धिः, ९।२०

अकलंक कहते हैं कि मोक्ष के साधन भूत सम्यग्ज्ञानादि में तथा उनके साधक गुरु आदि में अपनी योग्य रीति से सत्कार आदर आदि करना तथा कषाय की निवृत्ति करना विनय सम्पन्नता है।[३३]

धवला में रत्नत्रय को धारण करने वालों में नम्रवृत्ति को विनय कहा गया है।[३४]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है कि दर्शन ज्ञान और चारित्र के विषय में तथा बारह प्रकार के तप के विषय में जो विशुद्ध परिणाम होता है, वही उनकी विनय है।[३५]

'विनय' वि और नय से मिल कर बना है, जिसका अर्थ है विशेष रूप से झुकना। आराध्य की महानता से प्रभावित हो भक्त का झुक-झुक जाना ही विनय है। इस झुकने में न तो स्वार्थ है और न दबावजनित विवशता। विनय सात्विकता का भाव है, वह स्वयं उत्पन्न होता है और वह विनयकर्ता के पवित्र हृदय का प्रतीक है।

उमास्वाति के 'ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारः' सूत्र की व्याख्या करते हुए पूज्यपाद ने कहा है, 'सबहुमानंमोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयः।' इसका अर्थ है कि बहुत आदर के साथ ज्ञान की ग्रहण करना, अभ्यास करना, और स्मरण करना आदि ज्ञान-विनय है।

वसुनन्दि का भी कथन है, 'ज्ञान में, ज्ञान के उपकरण शास्त्र आदिक में तथा ज्ञानवन्त पुरुष में भक्ति के साथ नित्य जो अनुकूल आचरण किया जाता है, वह ज्ञान-विनय है।'[३६] तात्पर्य यह है कि ज्ञान-विनय ज्ञान की भक्ति है, और उस भक्ति से ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

३३- तत्वार्थवा०, ६।२४

३४- धवला, १३।५-४

३५- कत्तिगेया०, गा० ४५७

३६- उवासया०, गा० ३२२

जैन मनीषियों ने दर्शन में श्रद्धा करने को ज्ञान की तरह ही दर्शन विनय कहा है। दर्शन का अर्थ है जिनोपदिष्ट सात तत्वों का साक्षात्कार करना। इस तरह पूज्यपाद की दृष्टि में "शंकादिदोषरहितं तत्वार्थ श्रद्धानं दर्शनविनयः" है।[३७] इसका अर्थ है कि शंकादि दोषों से रहित तत्वार्थ-श्रद्धान को दर्शन-विनय कहते हैं। तत्वार्थ का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। जिससे मोक्ष मिलता है और तत्वार्थ का श्रद्धान ही दर्शन-विनय है, फिर वह भी मोक्ष का प्रदाता माना जायेगा।

ज्ञान और दर्शन विनय की तरह चारित्र की विनय का भी महत्व है। वसुनन्दि ने लिखा है कि परमागम में पांच प्रकार का चारित्र और उसके जो अधिकारी या धारण करने वाले वर्णन किये गये हैं, उनके आदर-सत्कार को चारित्र-विनय जानना चाहिए।[३८] अर्थात् चारित्र-विनय केवल पांच प्रकार के चारित्र की नहीं, किन्तु चारित्रवानों की भी विनय है। चारित्रवानों में तीर्थंकर से ले कर चारित्रधारी महा-पुरुषों तक सभी आ जाते हैं। यह विनय ही श्रद्धा की तीव्रता से भक्ति का रूप धारण कर लेती है।

उपचार-विनय

अपने से बड़ों के प्रति मन-वचन-काय से विनम्र भाव दिखाना उपचार विनय है। यह विनय केवल प्रत्यक्ष में ही नहीं परोक्ष में भी की जानी चाहिए। पूज्यपाद ने उमास्वाति के उपचार-विनय की व्याख्या करते हुए लिखा है, "प्रत्यक्षेऽभ्याचार्यादिष्वभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिरुपचारविनयः। परोक्षेऽपि कायवाङ्मनोभिरञ्जलिक्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणादिः"।[३९] अर्थात् आचार्य आदि के समक्ष आने पर खड़े हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना और नमस्कार करना आदि उपचार-विनय है।

३७- सर्वार्थसिद्धिः, ९।४

३८- उवासया०, गा० ३२३

३९- सर्वार्थसिद्धिः, ९।२३

वसुनन्दि ने मन, वचन और काय के भेद से उपचार-विनय को तीन प्रकार का माना है। ये तीनों प्रकार भी प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार के होते हैं।[४०] आचार्य ने इन भेदों को स्पष्ट करने के लिये छह गाथाओं का निर्माण किया है, जिनका तात्पर्य है कि अपने से बड़ों की मन-वचन-काय से प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूपों में अभ्यर्थना करना उपचार-विनय है।

विनय से पुरुष शशांक के समान उज्ज्वल यश: समूह से दिगन्त को धवलित करता है। विनय से वह सर्वत्र सुभग अर्थात् सब जगह सबका प्रिय पात्र होता है और तथैव आदेयवचन होता है, अर्थात् उसके वचन सब जगह आदरपूर्वक ग्रहण किये जाते हैं। इस लोक और परलोक में सुख देने वाले उपदेश, गुरुजनों की विनय से ही उपलब्ध होते हैं। संसार में देवेन्द्र, चक्रवर्ती और माण्डलिक राजा आदि को जो सुख प्राप्त है वह सब विनय का ही फल है। और इसी प्रकार मोक्ष का सुख पाना भी विनय का ही परिणाम है। जब साधारण विद्या भी विनय रहित पुरुष के सिद्धि को प्राप्त नहीं होती है तो फिर मुक्ति को प्राप्त करने वाली विद्या, विनय-विहीन पुरुष के सिद्ध हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं हो सकती।[४१]

श्रुतसागर ने तत्वार्थवृत्ति में लिखा है : "विनय के होने पर ज्ञान-लाभ, आचार विशुद्धि और सम्यगाराधना आदि होती है।"[४२]

उपासना

अर्धमागधी आगमों में भक्ति के लिए प्राचीन शब्द 'उपासना' आया है। उवासगदसाओ नामक आगम में तीर्थंकर महावीर के दस उपासकों का वर्णन है।

४०- उवासया०,गा० ३२५

४१- वही, गा० ११५-१६

४२- तत्वार्थवृत्ति, पृ० २०४

महावीर को श्रमण तथा श्रावक गृहस्थ को उपासक कहा गया है। आनन्द आदि गृहस्थ जिस प्रकार महावीर के निकट पहुंचते हैं, उनका अभिगमन, प्रदक्षिणा, वंदन, नमस्कार आदि करके उपासना करते हैं, उस वर्णन में उपासना की प्राचीन शब्दावलि तथा उपासना पद्धति की जानकारी प्राप्त होती है। यहां सर्वत्र पर्युपासना शब्द का प्रयोग किया गया है।

उवासगदसाओं में राजा और श्रावकों के विषय में बार-बार आता है कि --

भगवान् महावीर जहां थे, वहां निकट आया। निकट आकर पांच प्रकार के अभिगम द्वारा अभिगमन किया। भगवान् की तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा करके वन्दन किया, नमस्कार किया। वन्दन, नमस्कार करके तीन प्रकार से पर्युपासना की। कायिक पर्युपासना में हस्त और पादाग्र को संकुचित व हृष्टचित्त करते हुए, नमन करते हुए सम्मुख, विनय से प्रांजलिपुट पर्युपासना की। वाचिक पर्युपासना में -- जो जो भगवान् बोलते थे उसके लिए यह ऐसा ही है भन्ते, यही तथ्य है, यही सत्य है, यही सन्देह रहित है, यही इच्छित है, यही प्रतीच्छित है, जैसा आप कह रहे हैं अप्रतिकूल हो कर पर्युपासना की।

मानसिक पर्युपासना के रूप में अपने में अत्यन्त संवेग उत्पन्न कर तीव्र धर्मानुरागरत हो कर पर्युपासना की।[४३]

जब श्रमण भगवान् महावीर वाणिज्यग्राम आये और आनन्द को ज्ञात हुआ तो वह उनके पास पहुंचा। वह कहता है -- श्रमण भगवान् को वन्दना करूं, नमस्कार करूं, सत्कार करूं, सम्मान करूं। भगवान् कल्याण हैं, मंगल हैं, देव हैं, चैत्य हैं, उनकी पर्युपासना करूं।[४४]

४३-उवासगदसाओ, २।६

४४-अभिगमण-वंदण-णमंसण-पडिपुच्छण-पज्जुवासणयाए।

समणं भगवं महावीरं वंदामि णमंसामि सक्कारेमि
सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेययं पज्जुवासामि।--उवासग० २।१०

उवासगदसाओ के इस विवरण में एक ओर भावभक्ति हृदय की और वाचनिक और कायिक भक्ति का उल्लेख है ।

भाव भक्ति में संवेग और तीव्र अनुरक्ति आवश्यक है ।

कायिक भक्ति में उवासगदसाओ से निम्नलिखित सूत्रों को पकड़ा जा सकता है --

१) अभिगम । (पंचविध अभिगमन)

२) त्रिविध प्रदक्षिणा ।

३) वन्दन

४) नमस्कार

५) त्रिविध पर्युपासना ।

इनके अतिरिक्त कुछ स्थलोंमें पर्युपासना के पूर्व पडिपुच्छणा--प्रतिप्रच्छा का उल्लेख है तथा नमस्कार के बाद सत्कार करने और सम्मान करने का उल्लेख है । कायिक पर्युपासना में शुश्रूषा का भी उल्लेख है ।

शौरसेनी आगम षट्खंडागम में भी प्राय: यही शब्दावली प्रयुक्त हुई है और उसे कृतिकर्म कहा गया है । तीन आवर्तदिणा -प्रदक्षिणा, तीन अवनति (नमस्कार) चार बार सिर नवाना (चतु:शिर) और १२ आवर्त ये सब क्रियाकर्म कहलाते हैं ।[४५]

कुन्दकुन्द ने उपासना की अध्यात्मपरक व्याख्या करते हुए लिखा है कि[४६] शुद्धात्म भावना की सहकारी कारणरूप से की गयी सेवा को उपासना कहते हैं ।

४५- तमादाहीणं पदाहिणं तिक्खुत्तं तियोणदंचदुसिरं बारसावत्तं तं सव्वं किरिया-कम्मं णाम । -- ध० खं०, १३।५,४।सु० २८।८८

४६- उपासनं शुद्धात्मभावनासहकारिकारणनिमित्तसेवा ।--प्र०सा०।ता० वृ०।२६२।३५४।१२

भक्ति के अंग और प्रकार

भक्ति से सम्बद्ध प्राचीन शब्दावली के उपर्युक्त विवेचन से एक ओर जैन धर्म में भक्ति की अवधारणा के विषय में जानकारी मिलती है, दूसरी ओर भक्ति के अंगों और प्रकारों के भी सूत्र प्राप्त हो जाते हैं। उनके आधार पर भक्ति के अंगों और प्रकारों का विवेचन करना सुविधाप्रद होगा।

उवासगदसाओ के विवरण में पर्युपासना का जो क्रम प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है --

१- उपागमन

२- अभिगमन

३- आदक्षिण-प्रदक्षिण

४- वंदण - नमंसण

५- पर्युपासन

इन शब्दों के विवरण भी साथ-साथ में प्राप्त होते हैं। भक्ति के प्रकारों को समझने के लिए उनका जान लेना उपयुक्त होगा।

उपागमन

उवासगदसाओ में आनन्द के सन्दर्भ में लिखा गया है कि जब आनन्द ने नगर के प्रमुख जनों को भगवान् की वन्दना के लिए जाते हुए देखा तो उसके मन में आया कि वह भी भगवान् की पर्युपासना करे (एवं संपेहेइ)।

ऐसा विचार कर उसने स्नान किया। (संपेहित्ता ण्हाए)

शुद्ध तथा समायोग्य मांगलिक वस्त्र अच्छी तरह पहने। थोड़े से मूल्यवान आभूषणों से शरीर को अलंकृत किया। अपने घर से निकला। (पडिणिक्खमइ) पैदल चलता हुआ वाणिज्यग्राम से निकला। दूतीपलास चैत्य में जहां श्रमण भगवान् महावीर थे वहां उपागमन किया। (जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ)[१]।

राजा जितशत्रु महावीर के वन्दन के लिए निकला (निग्गच्छइ)। इसी प्रकार वह चैत्य के निकट पहुंच कर भगवान् के न अधिक दूर न अधिक निकट समुचित स्थान पर रुका, हाथी से उतरा, राजचिह्न अलग किये और जहां श्रमण भगवान् महावीर थे, वहां उपागमन किया।[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि उपागमन का शाब्दिक अर्थ निकट आना है किन्तु भक्ति के निमित्त से किसी के निकट आने की प्रक्रिया से ही भक्ति का प्रारम्भ हो जाता है। आने के पूर्व उसकी मनःस्थिति क्या बनती है, वेशभूषा क्या धारण करता है। निकट पहुंच कर औद्धत्यपूर्वक या विनीत भाव से पास में कैसे पहुंचता है, यह सब उपागमन में समाहित है।

अभिगमन

उपागमन के बाद उवासगदसाओ में अभिगमन का वर्णन है --

उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छइ।[३]

अर्थात् निकट पहुंच कर पांच प्रकार के अभिगम द्वारा श्रमण भगवान् महावीर का अभिगमन करता है।

पांच प्रकार का अभिगमन इस प्रकार है --

१- सचित्तद्रव्यों का व्युत्सर्जन।

२- अचित द्रव्यों का अव्युत्सर्जन।

३- एकशाटिक उत्तरासंग करना।

४- दृष्टि पड़ते ही हाथ जोड़ना। (चक्षुफासे अंजलिपग्गहेणं।)

५- मन को एकाग्र करना।

१- उवासग० १।१०

२- वही, १।६

३- वही, १।६

आदाहिणा-पदाहिणा

अभिनन्दन करके तीन आदाहिणा-पदाहिणा करता है।[४]

शौरसेनी आगम षट्खण्डागम में क्रियाकर्म के अन्तर्गत `तिक्खुत्तं आदाहिणं पदाहिणं' का उल्लेख है।

धवला में पदाहिणं की व्याख्या करते हुए लिखा है कि वन्दना के समय गुरु, जिन और जिनगृह की प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना पादाहिणा कहलाता है।

षट्खण्डागम में आदाहीणं का अर्थ आत्माधीन किया है। तिक्खुत्त की व्याख्या करते हुए धवलाकार ने लिखा है कि प्रदक्षिणा और नमस्कार आदि क्रियाओं का तीन बार करना `तिक्खुत्त' है। अथवा एक ही दिन में जिन, गुरु, ऋषियों की वन्दना तीन बार की जाती है, इसलिये इसका नाम `तिक्खुत्त' है।[५]

वन्दन-नमस्कार

वन्दन और नमस्कार का प्रयोग एक साथ किया गया है (वंदह णमंसह)।[६] कुन्दकुन्द ने भी दोनों का प्रयोग एक साथ किया है (वंदामि णमंसामि)।[७] यद्यपि वंदना और नमस्कार का प्रयोग एक साथ किया जाता था, किन्तु इनकी प्रयोग विधि में अन्तर था। आगे वंदना के प्रसंग में इसे स्पष्ट किया जायेगा।

पर्युपासन

उवासगदसाओं में वंदना और नमस्कार के बाद पर्युपासना का उल्लेख किया

४- तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ। --उवासग०, १।६

५- वंदणकाले गुरुजिणजिणहराणं पदक्खिणं काऊण णमंसणं पदाहिणं णाम। पदाहिणाणमंसणादिकिरियाणं तिण्णिवारकरणं तिक्खुत्तं णाम। अथवा एक्कम्हि चेव दिवसे जिणगुरुरिसिवंदणाओ तिण्णिवारं किज्जंति त्ति तिक्खुत्तं णाम। -- ध० १३।५,४,२८।८६।१

६- उवासग०, १।६

७- भक्तिसंग्रह

है। यह तीन प्रकार की कही गयी है -- १-कायिक, २- वाचिक, ३- मानसिक।[८] उपासना के सन्दर्भ में ऊपर इनका विवरण दिया गया है।

पर्युपासना के अतिरिक्त सत्कार और सम्मान का भी उल्लेख प्राप्त होता है। पर्युपासना के पूर्व कहीं-कहीं `पडिपुच्छण` का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिसका अर्थ प्रतिप्रच्छा किया गया है।[९]

साधु या आचार्य की भक्ति या उपचार विनय में कुछ भिन्न प्रक्रिया। पदावलियों का वर्णन और शब्दावली का प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार चैत्यवन्दन के सन्दर्भ में तो भक्ति की एक नवीन प्रक्रिया का ही विवरण प्राप्त होता है, जिसका विवेचन यथास्थान किया जायेगा।

वन्दना की गणना छह आवश्यक में की गयी है।वन्दना विषयक अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना हुई है तथा अनेक अन्य ग्रन्थों में भी इसका विवरण प्राप्त होता है। इस सबसे वन्दना के महत्व का ज्ञान होता है।

प्राकृत ग्रन्थ मूलाचार में कहा है कि अरहंत, सिद्ध की प्रतिमा, तप, श्रुत, गुणगुरु तथा दीक्षा में ज्येष्ठ रात्निकगुरु को आदर-सम्मान से, मन-वचन-काय की शुद्धि से सिर झुका कर प्रणाम करने को वन्दना कहते हैं।[१०]

कसायपाहुड़ में कहा गया है कि एक तीर्थंकर को नमस्कार करना वन्दना है।[११]

धवलाकार ने लिखा है कि ऋषभ, अजित, वर्धमान आदि तीर्थंकर, भरत आदि केवली, आचार्य एवं चैत्यालय आदि के भेद को करके नमस्कार करना अथवा गुण-

---

८- उवासगा० १।६

९- वही, १।१०

१०-मूलाचार, गा० १।२५

११-एयस्स तित्थयरस्स णमंसणं वंदना णाम।-- क० पा०, १।१

गण युक्त शब्द कलाप से व्याप्त गुणानुस्मरण को वन्दना कहते हैं ।[१२]

रत्नत्रयधारक यति, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, वृद्ध साधु, इनके उत्कृष्ट गुणों को जानकर श्रद्धा सहित होता हुआ विनयों में प्रवृत्ति करना यह वन्दना है ।[१३]

अकलंक ने लिखा है कि मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक खड्गासन या पद्मासन से चार बार शिरोनति और बारह आवर्तपूर्वक वन्दना होती है ।[१४] वन्दना करने योग्य गुरुओं आदि के गुणों का स्मरण करना मनोवन्दना है । वचनों के द्वारा उनके गुणों का महत्व प्रकट करना यह वचन वन्दना है । और प्रदक्षिणा करना, नमस्कार करना यह कायवन्दना है ।[१५]

वन्दना की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए योगसार में कहा गया है कि जो पुरुष पवित्र दर्शन ज्ञान और चारित्र स्वरूप उत्तम आत्मा की वन्दना करता है, विद्वानोंने उसी वन्दना को उत्तम वन्दना कहा है ।[१६]

वन्दनासूत्र पर भद्रबाहुस्वामी की निर्युक्ति, १९४ गाथाओंमें लिखी गयी थी, जो वन्दना विषय पर सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है । इसी सूत्र पर श्री यशोदेव सूरि

१२-उत्तराध्ययन- - -वहुमाणादितित्थयराणं सरणादिकेवलीणं आइरिय--वहुसुतयादीणं मेयं काऊण णमोक्कारो य गुणगणभल्लीणो सयकलावाउलो गुणाणुसरणसब्भावो वा वंदणा णाम । -- ध०, ८।३, ४१।८४।३

१३- वन्दना नाम रत्नत्रयसमन्वितानां यतीनां आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविराणां गुणातिशयं विज्ञाय श्रद्धापुरःसरेण----विनयेप्रवृत्तिः ।-- म० आ०/वि०।११६।२७५।१

१४- वन्दना त्रिशुद्धिः द्वयासना चतुःशिरोऽवनतिः द्वादशावर्तना ।-- रा० वा०।६।२४

१५- वन्दनीयगुणानुस्मरणं मनोवन्दना । वाचा तद्गुणमाहात्म्यप्रकाशनपरवचनोच्चारणम् । कायेन वन्दना प्रदक्षिणीकरणं कृतानतिश्च । --म० आ०।वि०।५०६।७२८।१३

१६- पवित्रदर्शनज्ञानचारित्रमयमुत्तमम् । आत्मानं वन्द्यमानस्य वन्दनाकथिता बुधैः ।
-- यो० सा०।अ०।५।४९

ने वि० सं० ११७५ में चूर्णि और श्री सोमसुन्दर सूरि ने भाष्य लिखा था। उत्तराध्ययन-सूत्र और आवश्यक सूत्रों में वन्दना का सुव्यवस्थित वर्णन हुआ है। श्री हरिभद्र सूरि के 'वंदनपंचाशक' में वन्दना का ही वर्णन है। श्री जिनदत्तसूरि ने 'चैत्यवंदनकुलक' की रचना प्राकृत की २८ गाथाओं में की थी। श्री जिनप्रभ सूरि के 'वन्दनस्थानविवरण' में प्राकृत की १५० गाथाएं हैं। श्री शान्तिसूरि का 'चैत्यवंदणमहाभास' भी वन्दना का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

नमंसण या नमस्कार

महावीर ने जब दीक्षा ग्रहण की उस समय पंच मुष्टि लोंच करके सिद्धों को नमस्कार किया।[१७] हाथ, पैर, मस्तक की सावधानता को या उनके शुभ व्यापार को नमस्कार कहा जाता है।[१८]

धवला टीका में कहा गया है कि पांच मुट्ठियों से जिनेन्द्र के चरणों में पड़ने का नाम नमंसण है।[१९]

आध्यात्मिक दृष्टि से अर्हन्त आदि के गुणों में अनुराग रखने वाले आत्मा की स्तुति और सिर झुकाने रूप अपने वचन और कार्य की क्रिया को उसे नमस्कार कहा जाता है[२०]।

थुति।संस्तव

आवश्यकों में स्तव या चतुर्विंशति स्तव की गणना द्वितीय स्थान पर है। प्राकृत में 'थुति' शब्द का प्रयोग हुआ है। स्तव या स्तुति का क्षेत्र बहुत व्यापक

१७- पंचमुट्ठियं लोयं करेता सिद्धाणंणमोक्कारं करेइ।--आयारचूला अध्य० १५।३२

१८- नमः कर-चरण-मस्तक सुप्रणिधानरूपो नमस्कारो भवत्वित्यर्थः।-- जम्बूद्वीप ज्ञा० वृ० १, पृ० १०

१९- पंचहि मुट्ठीहि जिणिंदचलणे सुनिवदणंणमंसणं।-- ध० पु० ८, पृ० ९२

२०- भग० विजयोदया, ७५३

है । इसके अन्तर्गत स्तुति, स्तोत्र, नाम संकीर्तन, नाम-स्मरण, नाम-जप आदि समाहित हो जाते हैं । ग्रन्थों के आदि, मध्य और अन्त में निबद्ध 'मंगल' भी इसी के अन्तर्गत समाहित होते हैं ।

भक्ति की ये विधायें अत्यधिक प्रचलित हुईं । यही कारण है कि प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक इनकी रचना का क्रम अविच्छिन्न रूप से चलता रहा । आगे के पृष्ठों में किये गये विवेचन से इस बात की और भी स्पष्ट जानकारी प्राप्त होगी ।

प्राकृत ग्रन्थ मूलाचार में लिखा है कि ऋषभ आदि जिनवरों की नाम-निरुक्ति और गुणों का अनुकीर्तन तथा अर्चना करके त्रिशुद्ध प्रणाम करना स्तव कहलाता है[२१] ।

स्तव या स्तवन के छह भेद कहे गये हैं -- नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव । चौबीस तीर्थंकरों के वास्तविक अर्थवाले एक हजार आठ नामों से स्तवन करने को नामस्तव कहते हैं । तीर्थंकर के बिम्ब और मूर्ति के स्तवन को स्थापना-स्तव तीर्थंकरों के परम औदारिक शरीर के वर्णभेद पूर्वक स्तवन को द्रव्यस्तव और तीर्थंकरों से सम्बन्धित निर्वाणक्षेत्र तथा समवसरण क्षेत्रों के स्तवन को क्षेत्रस्तव, पंच कल्याणक अथवा किसी महत्वपूर्ण घटना-समय के स्तवन को कालस्तव और केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणों का स्तवन भावस्तव कहलाता है[२२] । आराध्य के गुणों की प्रशंसा करना स्तुति है । लोक में अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा को स्तुति कहते हैं, भगवान् में अनन्तगुण हैं । उनमें से एक का वर्णन हो पाना ही अशक्य है, फिर अतिशयोक्ति कैसे हो सकती है । वास्तव में अपनी लघुता दिखाते हुए भगवान् की प्रशंसा करना स्तुति है ।

समन्तभद्र ने कहा है,[२३] "भगवान् जिनेन्द्र के गुणों का सतत स्मरण और आराध्यमय हो जाने की चाह हृदय में पवित्रता का संचार करती है और उस पवित्रता

२१-उसहादि जिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च ।
काऊण अच्चिदुण य तिसुद्ध पणमो थवो णेओ ।।--मूलाचार, गा० १।२४

२२-वही, गा० ७।४१।सं० टी०

२३- स्वयम्भूस्तोत्र, १२।२

से पुण्य-प्रभावक परिणाम बढ़ते हैं।

प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश में अनेक स्तुति-स्तोत्र रचे गये। डा० प्रेमसागर जैन ने इस विषय में महत्वपूर्ण सूचनाएं दी हैं[२४]।

प्राकृत-स्तोत्रोंमें `अयतिउवणत्थोत्त' एक प्राचीन रचना है। कुन्दकुन्द ने (विक्रम की पहली शताब्दी) `तित्थयर-थुदि' की रचना की थी। इसमें आठ गाथाएं हैं, जिनमें प्रथम से ले कर चौबीसवें तीर्थंकर तक की स्तुति की गयी है। इसके अतिरिक्त कुन्दकुन्द ने सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्य भक्ति और निर्वाण भक्ति का भी निर्माण किया था जो एक प्रकार से स्तोत्र ही हैं। मानतुंग सूरि का `भयहरस्तोत्र' भी प्राकृत भाषा में है। इसमें २१ पद्य हैं जो भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति में समर्पित हुए हैं। उवसग्गहरस्तोत्र' भद्रबाहु की प्रसिद्ध कृति है। इसमें केवल पांच पद्य हैं किन्तु इतने सशक्त हैं कि उन पर कई टीकाएं रची गयीं। ये भद्रबाहु श्रुत केवली भद्रबाहु से भिन्न थे, ऐसा इनके द्वारा रची गयी अनेक निर्युक्तियों से सिद्ध है। महाकवि धनपाल की `ऋषभ पंचाशिका' और `वीरथुई' रचनाएं भी प्राप्त होती हैं। धनपाल विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए थे। ग्यारहवीं शताब्दी में ही अभयदेवसूरि ने महावीर स्तोत्र की रचना की, इसमें २२ पद्य हैं। श्री जिनप्रभसूरि ने भी चतुर्विंशति जिनकल्याण कल्प और अम्बिका देवी कल्प प्राकृत में ही रचे हैं। ये १४वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि थे।

संस्कृत में जैन स्तुति-स्तोत्रों की बहुत अधिक रचना हुई। आचार्य समन्त भद्र ने (विक्रम की दूसरी शताब्दी) स्वयम्भूस्तोत्र और स्तुति-विद्या स्तोत्र बनाये। जिनमें चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है। सिद्धसेन दिवाकर (विक्रम की पांचवीं शती) ने कल्याण मन्दिर स्तोत्र और कुछ द्वात्रिंशिकाओं की रचना की थी। द्वात्रिंशिका स्तुति को कहते हैं। आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद ने सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र भक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति, तीर्थंकरभक्ति, शान्तिभक्ति, समाधि भक्ति, निर्वाण भक्ति, नन्दीश्वरभक्ति और चैत्य भक्ति का संस्कृत में निर्माण किया

२४- जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि, पृ० ३१-३६

था । उन्हें १२ स्तोत्र ही कहना चाहिए । इनका प्रकाशन `दशभक्ति:` नाम की पुस्तक में हो चुका है । विद्यानन्दि पात्रकेशरी (ईसा की छठी शती) ने पात्रकेशरी स्तोत्र की रचना की, जिसमें ५० श्लोकों से भगवान् महावीर की स्तुति की गयी है । मानतुंगाचार्य (वि० सातवीं शती) का भक्तामरस्तोत्र बहुत प्रसिद्ध है। इसमें ४८ श्लोक हैं, जिनके द्वारा भगवान आदिनाथ की स्तुति की गयी है । विक्रम की सातवीं शताब्दी के विद्वान् भट्टाकलंक ने अकलंकस्तोत्र रचा था । बप्पभट्टि (ई० ७४३-८३८) ने सरस्वती स्तोत्र और चतुर्विंशति जिनस्तुति की रचना की थी । विक्रम की आठवीं और नौवीं शती के कवि धनंजय ने विषापहार स्तोत्र बनाया था, जिसकी प्रसिद्ध स्तोत्रों में गणना है । मुनि शोभन ने भी चतुर्विंशतिजिनस्तुति का निर्माण किया था जिस पर उन्हीं के भाई धनपाल ने टीका लिखी थी ।

वादिराज सूरि (ई० की ११वीं शती का पूर्वार्ध) ने ज्ञानलोचनस्तोत्र, एकीभावस्तोत्र और अध्यात्मअष्टक की रचना की थी । आचार्य हेमचन्द्र (जन्म सं० ११४५, मृत्यु सं० १२२९) ने वीतराग स्तोत्र, महादेव स्तोत्र और महावीर स्तोत्र का निर्माण किया था । चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में श्री जिनप्रभ सूरि ने चतुर्विंशति जिन-स्तोत्रम् और चतुर्विंशतिजिनस्तुतय: की रचना की थी ।

ऐसा कथन भ्रममूलक है कि अपभ्रंश में स्तुति-स्तोत्रों की रचना नहीं हुई । स्वयंभु (८वीं शती ईसवी) के `पउमचरिउ` में और पुष्पदन्त (९० वीं शताब्दी ईसवी) के `महापुराण` में स्थान-स्थान पर विविध स्तुति स्तोत्र तो हैं ही, किन्तु पृथक से स्वतन्त्र रूप में भी उनकी रचना हुई है । कवि धनपाल (१०वीं शताब्दी विक्रम) के `सत्य-पुरीय महावीर उत्साह` की बात पं० नाथूराम जी प्रेमी ने कही है । इसमें भगवान् महावीर की स्तुति है । जीवरत्नसूरि (जन्म ११३२-१२११ वि० संवत्) ने चर्चरी और नवकारफलकुलक अपभ्रंश में ही रचे थे । श्री देवसूरि (जन्म ११४३, मृत्यु १२२१ वि० सं०) ने मुनिचन्द्रसूरिस्तुति का निर्माण किया था ।

श्री जिनप्रभसूरि ने चर्चरी स्तुति (पाटण ग्रन्थ भण्डार की सूची, पृ०२६७) जिनजन्ममह:स्तोत्रम् (२७३) जिनजन्माभिषेक (२७५), जिन महिमा (१८६) और मुनि सुव्रतस्तोत्रम् (२७५) की रचना की थी। ये जिनप्रभसूरि आगमगच्छीय देवभद्र सूरि के शिष्य थे और विविध तीर्थ कल्प के कर्ता से भिन्न थे। हा० विन्टरनित्स ने उनको सुलतान फिरोज (१२२०-१२६६ वि०सं०) का मित्र बताया है। इसी ग्रन्थ सूची में धर्मसूरि-शिष्य (१३१०-७२ वि० सं०) के पार्श्वनाथजन्मकलश: (३०८) वर्धमान सूरि के वीरजिनपारणकम् (४१२), स्तोत्रसंग्रह (१६५), स्तुतिद्वात्रिंशिका (२५), ऋषभजिन स्तुति (४४-४५), गौतमचरित्रकुलक (२६६), जिनगणधरनमस्कार (१६२), जिनस्तुति (४१२), जिनस्तोत्रम (१४५) और शान्तिनाथ स्तुति (१३५) की भी सूचना संकलित है।

श्री धर्मघोष सूरि (वि० सं० १३०२-५७) के महावीर-कलश का जैन स्तोत्र सन्दोह के प्रथम भाग में प्रकाशन हो चुका है। इसी भाग में `विविधतीर्थस्तुतय:` भी संकलित हैं जिनका निर्माण अपभ्रंश में ही हुआ है। उनके कर्ता का नामोल्लेख नहीं है। श्री सोमसुन्दरसूरि (वि० सं० १४३०-६६) ने `: `अष्टभाषामयस्तोत्राणि` की रचना की थी। इन सबके अन्त का पद्य अपभ्रंश में है। रुद्रपल्ली (१६वीं शताब्दी विक्रम) ने आत्म-सम्बोधन, दशप्राण जयमाल और संबोध-पंचासिकास्तोत्र अपभ्रंश में ही रचे थे। महावीर शास्त्रभण्डार की ग्रन्थसूची में श्री वल्लभ के लिखे हुए नेमीश्वर गीत का उल्लेख हुआ है। यह नेमीश्वर की भक्ति में, अपभ्रंश का एक गीत है। गणि महिमासागर के `अरहंत-चौपई` नाम के स्तोत्र की रचना भी अपभ्रंश में हुई है।

मंगल

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश के सभी ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम भक्ति-स्तुति के रूप में ग्रन्थारम्भ में किये गये मंगल पद्योंकी ओर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा।

सामान्यतया प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपने आराध्य देव और गुरुजनों के स्मरण की परम्परा देखी जाती है। इसे मंगल कहा गया है। `मंगल` पापों को गलाता है, विघ्नोंको दूर करता है। इसीलिए ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए ग्रन्थारम्भ में `मंगल` निबद्ध किया जाता है।

मंगल शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति में लिखा है, "जो मलों को गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, हनता है, क्षय करता है और विध्वंस करता है उसे मंगल कहते हैं"[२५]। विद्यानन्दि ने भी आप्त परीक्षा में "मलं गालयति मंगलम्"[२६] स्वीकार किया है। महाकवि धनंजय ने "मं पापं गालयतीति मंगलम्"[२७] कह कर उपर्युक्त का ही समर्थन किया है।

जैनाचार्यों ने पाप को ही मल माना है। यतिवृषभ ने द्रव्यमल और भाव-मल दोनों को पाप रूप कहा है और उसे गलाने वाले को मंगल कहा है। विद्यानन्द ने लिखा है, "श्रेयोमार्ग की संसिद्धि में विघ्न डालने वाला पाप ही मल है[२८]। वह परमेष्ठी के गुणस्तवन से गलता है, अतः उस स्तवन को मंगल कहते हैं।

यतिवृषभ ने मंगल के छह भेद किये हैं -- नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव[२९]। पंचपरमेष्ठियों के नाम लेने को नाम-मंगल कहते हैं। तदाकार (मूर्ति, बिम्ब) और अतदाकार (भावरूप से), दोनों ही रूपों में स्थापित किये गये आराध्य की स्तुति आदि करना स्थापना-मंगल है। तीर्थ-क्षेत्रों की भक्ति को क्षेत्र-मंगल कहते हैं। भगवान् के विविध कार्योंसे पवित्र हुए काल की स्मृति में पूजा आदि करना और महोत्सव मनाना काल मंगल है। कर्म-मल से रहित हुई शुद्ध आत्मा का चिन्तवन करना, भाव-मंगल कहलाता है। भगवान् की शुद्ध आत्मा के ध्यान करने से ध्याता की आत्मा भी शुद्ध और निर्मल हो जाती है। समस्त मल गल जाते हैं और अनन्तसुख प्राप्त होता है। अतः भावमंगल ही सर्वश्रेष्ठ और श्रेयस्कर है।

कार्य निर्विघ्न रूप से समाप्त हो यही मंगल का मुख्य प्रयोजन है। यति

२५- तिलोयपण्णत्ति, १।६

२६- आप्तपरीक्षा, पृ० ६

२७- नाममाला, श्लो० १०६

२८- आप्तपरीक्षा, पृ० १०

२९- तिलोयपण्णत्ति, १।१६

वृषभ ने लिखा है, "शास्त्रों के आदि, मध्य और अन्त में किया गया जिन-स्तोत्र रूप मंगल का उच्चारण सम्पूर्ण विघ्नों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे सूर्य अन्धकार को।"[३०]

विद्यानन्द ने मंगल के प्रयोजनों में शिष्टाचार परिपालन, नास्तिकता परिहार और विघ्न समाप्ति को गिनाया है।

शौरसेनी प्राकृत के उपलब्ध सर्वप्राचीन ग्रन्थ 'षट्खंडागम सुत्त' के प्रारम्भ में पंच णमोकार निबद्ध है --

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥

जैन परम्परा में इसे बाद मंगल माना गया है। कुन्दकुन्द ने समयपाहुड का प्रारम्भ भगवान् सिद्ध की वन्दना से किया है -- वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।

तत्वार्थसूत्र तथा सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में निम्नांकित मंगल निबद्ध है --

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

कवि चन्दु ने अपभ्रंश के प्रसिद्ध ग्रन्थ परमप्पपयासु का प्रारम्भ सिद्ध की स्तुति से किया है --

जे णाया कम्मकलंक डहेवि।
णिच्च-णिरंजण-णाण-मय ते परमप्प णवेवि॥

अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदन्त ने जसहरचरिउ के प्रारम्भ में भगवान् जिनेन्द्र को नमस्कार करते हुए कहा है --

तिहुवणसिरिकंतहो भवभयवंतहो अरहंतहो सयवन्महहो।
पणविवि परमेट्ठिहि पवियप्पिट्ठहि चरणजयलणयसयमहहो।

नाम-स्मरण

'नामनिरुक्ति' पूर्वक गुणानुकीर्तन को स्तव कहा गया है। यह 'नाम-

---

३०- तिलोयपण्णत्ति, १।३१

निरूक्ति' और 'गुणकीर्तन' अनेक रूपों में विकसित हुआ।

मानतुंग ने भक्तामरस्तोत्र में 'नामस्मरण' की महिमा बताते हुए लिखा है कि तुम्हारे नामरूपी मन्त्र का अहर्निश स्मरण करने वाले लोग तत्काल स्वयं बन्धन और भयमुक्त हो जाते हैं।[३१] तुम्हारे "नामकीर्तन" के बल से दावानल भी शमित हो जाता है।[३२]

जैसे सूर्यकिरणों से अन्धकार दूर हो जाता है, उसीप्रकार तुम्हारे 'कीर्तन' से क्षुद्र में रात्रायों का बल नष्ट हो जाता है।[३३]

सिद्धसेन ने लिखा है कि आपके संस्तव की अचिन्त्य महिमा का तो कहना ही क्या, आपका नाम मात्र भी संसार से प्राणियों की रक्षा करता है।[३४]

हिन्दी के जैन कवियों ने 'नाम' की महत्ता का भावपूर्ण निरूपण किया है।

जिनेन्द्र के 'नामस्मरण' की एक अद्भुत विशेषता यह है कि उससे लौकिक समृद्धि तो प्राप्त होती है, किन्तु उसके साथ ही उससे मनाकर्षण का भाव भी जागृत होता है।

जैन कवियों की दृष्टि में भगवान् के नाम जप से मोक्ष प्राप्त होता है। भगवान् के नाम से चक्रवर्ती का पद मिलना तो बहुत ही आसान है। अर्थात् नामजप से इहलोक और परलोक दोनों ही सधते हैं।

सतरहवीं शताब्दी के कवि बुधजनचन्द्र ने 'भरतबाहुबली छन्द' के आरम्भ में

३१- त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगत बन्धभया भवन्ति ।।--भक्तामरस्तोत्र, पद्य ४६

३२- त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम् ।। -- वही, पद्य ४०

३३- त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ।।-- वही, पद्य ४२

३४- आस्तामचिन्त्यमहिमा जिनसंस्तवस्ते ।
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।।-- कल्याणमन्दिर, ७

मंगलाचरण करते हुए लिखा है, 'मैं उस आदीश्वर प्रभु के चरणों में प्रणाम करता हूं जिसके नाम लेने मात्र से संसार का फेरा छूट जाता है अर्थात् यह जीव भव-भ्रमण से मुक्त हो जाता है।'[३५]

ब्रह्मलाम ने अपने 'नवकार छन्द' में पंचपरमेष्ठी के नाम की महत्ता का बखान करते हुए लिखा है, 'जो नित्यप्रति 'नवकार' को जपता है, उसको संसार की संपत्तियां तो मिल ही जाती हैं और शाश्वत सिद्धि भी उपलब्ध होती है।'[३६]

इसी प्रकार कवि मनराम ने अपने 'मनराम विलास' में नाम की महिमा बताई है। अरहन्त के नाम से आठ कर्मरूपी शत्रु नष्ट हो जाते हैं और 'सिद्ध' के भजन से सब काम सिद्ध हो जाते हैं। आचार्य की भक्ति से सद्गुणों का समावेश होता है। उपाध्याय के ध्यान से 'उपाध्याय' जैसे बन जाते हैं और साधुओं के स्मरण से सब मनोकामनाएं पूरी हो जाती हैं। इस भांति पंचपरमेष्ठी के नाम मंत्र का जाप इस जीव को निजधाम अर्थात मोक्ष प्राप्त करा देता है।[३७]

भानतराय ने अपने मन को समझाते हुए लिखा है, "हे मन तू दीनदयालु भगवान् जिनेन्द्र को भज, जिसका नाम लेने से क्षणमात्र में करोड़ों पापों के जाल कट जाते हैं। जिसके नाम को इन्द्र, फणीन्द्र और नरवर भी गाते हैं, तथा जिसके नाम रूपी ज्ञान के प्रकाश से मिथ्या जाल स्वतः ही नष्ट हो जाता है। जिसके नाम के समान ऊर्ध्व, मध्य और पाताल लोक में भी कोई नहीं है। उसी के नाम को नित्य प्रति जपो और विकराल विषयों को छोड़ दो --

रे मन भज भज दीनदयाल।
जाके नाम लेत इक छिन में, कटैं कोट अघ जाल।
इन्द्र फनिन्द नरवर गावैं, जाको नाम रसाल।

३५- पणविवि पय आदीश्वर केरा। जेह नामें छूटे भवफेरा॥

३६- नवकार छन्द, पृ० २१६

३७- मनरामविलास, पद्य १

जाको नाम ज्ञान परकासै, नाशै मिथ्या जाल ।
जाके नाम समान नहीं कछु, ऊरध, मध्य पताल ।
सोई नाम जपौ नित थानक, छोड़ि विषय विकराल ।

हिन्दी के भक्त कवियों की तरह जैन कवियों ने भगवान् के नाम-जप की महिमा बतायी है । ब्रह्मलाल ने पंच परमेष्ठी के नाम जप की महिमा बतलाते हुए कहा है कि जो नित्य प्रति नवकार को जपता है, उसको सांसारिक सुख तो मिल ही जाता है, शाश्वत सिद्धि भी प्राप्त हो जाती है ।[३८]

नित्य जपी ई नवकार संसार संपति सुखदायक ।
सिद्ध मन्त्र शाश्वतो इम जपे श्री गजनायक ।।

भगवतीदास 'भैया' का विश्वास है कि वीतरागी भगवान् का नाम लेने वाले के पाप क्षण से तो भर ही जाते हैं, वह भवसिन्धु से भी पार हो जाता है[३९]--

वीतरागी नाम लेती काम सब होहिं नीके ।
वीतराग नाम लेती पाप घन भरिये ।
वीतराग नाम लेती विघन विलाय जायं ।
वीतराग नाम लेती भव-सिन्धु तरिये ।।

सुख चाहे इहलौकिक हो चाहे पारलौकिक, पाप नष्ट हुए बिना प्राप्त नहीं होता । भगवान् का नाम लेने मात्र से ही पाप दूर हो जाते हैं । 'भैया' भगवती दास ने तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के नाम से पापों को कम्पायमान होते हुए दिखाया है --

मुनिसुव्रत जिन नाम, नाम त्रिभुवन जस जपै ।
जपै सुर नर जाप, जाप जपि पाप सु कंपै ।।[४०]

३८- नवकार छन्द, अन्तिम कलश

३९- ब्रह्मविलास, पृ० १६२-६३

तुलनीय-- नाम को मरोसो बल, बारिहुं फल को फल ,
सुमिरिये छांडि छल, भलो कृपालु है ।
स्वारथ साधक, परमारथ दायक नाम,
राम नाम सारिखो न और दूजो हितु है ।--विनयपत्रिका, उ० पद १५४

४०- ब्रह्मविलास, पृ० ६१।६७

आनतराय ने लिखा है कि भगवान् का नाम लेने से एक क्षण में ही करोड़ों अघजाल कट जाते हैं ,

रे मन भज भज दीनदयाल ।
जाके नाम लेत इक छिन में, कटैं कोट अघ जाल ।[४१]

सुखरदास का कथन है कि सीमन्धरस्वामी के नाम का उच्चारण करने से पाप उसी भांति नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्योदय से अन्धेरा --

सीमन्धर स्वामी मैं चरनन का चेरा ।
नाम लिये अघ ना रहैं ज्यों ऊगे भान अन्धेरा ।।[४२]

आनतराय ने भगवान् का नाम न लेने वाले को धिक्कारा है । उनका कथन इस प्रकार है --

इन्द्र फनिन्द चक्रधर गावैं, जाको नाम रसाल ।
जाको नाम ज्ञान परकासे, नाशे मिथ्या-जाल ।।
पशु ते धन्य धन्य ते पंखी, सफल करैं अवतार ।
नाम बिना धिक मानव को भव, जल बल हुवे हैं छार ।।[४३]

सुखरदास ने भगवान् के नाम में पापियों को तारने की शक्ति का उल्लेख किया है । उनका कथन है कि भगवान् का नाम लेने से अंजन से चोर और कीचक से अभिमानी भी तर गए हैं --

म्हें तो थाकी आज महिमा जानी, अब लौं नहिं उर आनी ।।
काहे को मन वन में भ्रमते, क्यों होते दुःख दानी ।

४१- आनत पद संग्रह, पद ६६

४२- सुखर विलास, पद २

तुलनीय: वेद हू, पुरान हू, पुरारि हू पुकारि कह्यो ।
नाम प्रेम चारि फल हू को फरु है ।
ऐसे राम नाम सों न प्रीति न प्रतीति मन,
मेरे जान जानिबो सोऊ नर खरु है ।।--विनयपत्रिका, उत्त०,पद २५५

४३- आनत पद संग्रह, पद ६६

नाम प्रताप तिरे अंजन से, कीचक से अभिमानी ।[४४]

मनराम ने लिखा है कि 'अरिहंत' का नाम आठ कर्म रूपी दुष्मनों को नष्ट कर देता है और मोक्ष प्रदान करता है --

करमादिक अरिन को हरै अरिहंत नाम,
सिद्ध करै काज सब सिद्ध को भजन है ।[४५]

भूधरदास का कथन है कि यदि मनुष्य जीवन से छुटकारा पाना है, तो भगवान् नेमीश्वर का नाम रटो --

है अजौं एक उपाय भूधर, छूटै जो नर धार रे ।
रटि नाम राजुल मन को, पशु बंध छोड़न हार रे ।।[४६]

बानतराय का कथन है कि भगवान् का नाम मिथ्या-जाल को काट कर ज्ञान का प्रकाश करता है --

जाको नाम ज्ञान परकासै, नाशै मिथ्या जाल ।।[४७]

भगवतीदास 'भैया' ने भी पंच परमेष्ठी के नाम की महिमा बताते हुए लिखा है --

तिहु लोक तारन को, आतमा सुधारन को ।
ज्ञान विस्तारन को, यहै नमस्कार है ।।[४८]

४४- भूधरविलास, पद ४३
तुलनीय--को को न तर्यो हरिनाम लिये ।
सुवा पढ़ावत गनिका तारी व्याध तर्यो सरघात किये ।।
अन्तरदाह गु मिट्यो व्यास को, हक चित ह्वै भागवत कियें ।
-- सूरसागर, प्र० स्क०, पद ८६

४५- मनराम विलास ।

४६- भूधरविलास, ५वां पद

४७- बानतपद संग्रह, ६ठवां पद

४८- ब्रजविलास, पृ० १५८

महाकवि रूपचन्द संसारी जीव को सम्बोधित करते हुए कहते हैंकि तुम दिन-रात जिन भगवान का नाम क्यों नहीं जपते । जिन नाम जपने से कलुषित परिणाम निर्मल हो जाते हैं तथा मन की सभी चिन्तायें दूर हो जाती हैं । भगवान् जिन का नाम जपने से सब सिद्धियाँ और नवनिधि तथा नाना प्रकार की संपदा प्राप्त होती है । भगवान् का नाम जप सब विघ्नों और पापों को दूर करता है तथा नित्य ही शान्ति प्राप्त होती है । तुम थोड़ी सी सम्पत्ति पा कर भगवान् के नाम को भूल गये और दिन रात सम्पत्ति के नशे में पड़े रहे । अब तुम सम्भल जाओ, सावधान हो जाओ और निज हित करो --

जिन जिन जपति किनि दिन राति ।
करि कलुष परिनाम निर्मल, सकल सल्यनिपाति ।
जपति जिहि वसुसिद्धि नव निधि, संपदा बहु भाँति ।
हरइ विघन अरु हरइ पातकु, होइ नित सुभ सांति ।
कहा किंचित पाइ संपति, रहे वसु मदमाति ।
रूपचन्द चित चेति निज हित, पर हरहि परतीति ।।

महाकवि भूधरदास कहते हैं कि अब नित्य नेमि भगवान् के नाम को जपो । यही सच्चे स्वामी हैं, इन्हीं को अपना सच्चा हितकारी मान कर अन्य कुदेवों को छोड़ दो । अपने चंचल मन को विषय वासनाओं से हटा कर भगवान् के चरणों में स्थिर करो । भगवान् की भक्ति में स्थिर चित से लग जाओ । मुख से लगातार भगवान् के गुण गाते रहो और पैर से भगवान् के मन्दिर में जा कर पूजा करो । यदि तुम इस भव-समुद्र से पार उतरना चाहते हो तो भगवान् की भक्ति रूपी जहाज को सजाओ । उसी भक्ति रूपी जहाज से इस भव समुद्र से पारउतरना सम्भव है --

अब नित नेमि नाम भजौ ।
सच्चा साहिब यह निज जानौ और अदेव तजौ ।
चंचल चित चरन थिर राखौ, विषयन तैं वरजौ ।
आननतैं गुन गाय निरन्तर पानन पांय अजौ ।
भूधर जौ भवसागर तिरना भक्ति जहाज सजौ ।।

भगवान् के नाम जप की महिमा बताते हुए कवि धर्मपाल कहते हैं कि मैं भवसागर में फंसा हुआ हूं। मुझे तुम्हारे बिना कोई भी पार नहीं लगा सकता। हे प्रभु तुम ही मुझे पार लगाओ। तुम्हारी कृपा से मैंने तुम्हारे नाम मन्त्र का आधार प्राप्त किया है। तुमने सब तत्वों में सार रूप सत उपदेश दिया है। जिन्होंने इस उपदेश को धारण किया वे इस भवसागर से पार उतर गये जिन्होंने यह सत उपदेश नहीं धारण किया वे डूब गये। यह धर्म सब प्रकार से सुखकारी है इस उपकारी धर्म को नहीं भूलना चाहिए। मुझे इस भव सागर से पार लगाने वाले प्रभु ही हैं, उनका महान् उपकार है।

प्रभु बिन कौन उतारै पार, भव जल अगम अपार।
कृपा तिहारी तैं हम पायौ नाम मन्त्र आधार।
तुम नीकौ उपदेस दीयौ, इह सब सारन कौ सार
इसके होड चले तेई निकसे, डूबे तिन सिर भार।
उपकारी कौं ना बिसरिये, इह धरम सुखकार।
धरमपाल प्रभु तुम मेरे तारक, किम प्रभु लौ उपकार॥

जीव को सम्बोधित करते हुए कवि कहते हैं कि अब धैर्य छोड़ने, दुःख मनाने और दीनता दिखाने से क्या होता है। जैसे कर्म किये हैं, उनका फल भोगना ही होगा। पहले तो पाप करते हुए शंकित भी नहीं हुआ, अब क्यों [illegible] फूल रही है। अब तो प्रभु का स्मरण करो, वही सब विपत्ति मिटायेंगे --

जिया तू डुस से काहे डरे रे।
पहली पाप करत नहिं शंक्यो अब क्यों सांस भरे रे।
करम भोग भोगे ही छूटैं शिथिल भये न सरे रे।
धीरज धार मार मन ममता जो सब काज सरे रे।
करत दीनता जन जन पे तू कोई न सहाय करे रे।
`धर्मपाल` कहे सुमरो जगतपति वे सब विपति हरे रे॥

महाकवि सुखरदास संसारी जीव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तू भगवान् के नाम की माला को दिन-रात जप। भजन रूपी अमृत से धोये बिना यह जीभ

बेकार है। भगवान् का नाम स्मरण ही सार है और सब कुछ मिथ्या है। संसार नाशवान है केवल भगवान् का नाम स्मरण ही सार तत्व है। यह शरीर चमड़े की मठरी है। इस चमड़े की मठरी शरीर के लिये विषय-सुख विषम धनुषबाण के समान है। जैसे चित्र में चित्रित नाग के माथे पर चित्राम की मूर्ति स्थिर रहती है उसी प्रकार अपने परिणामों की गांठ सुलझा कर हृदय में भगवान् की भक्ति धारण करो। कर्म रूपी शत्रु रात-दिन छल कर रहे हैं एक पल को भी अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में भगवान् के नाम की माला जपने से ही तेरा कल्याण हो सकता है।

जपि माला जिनवर नाम की।
मनन सुधारससों नहिं धोई सो रसना किस काम की।
सुमरन सार और सब मिथ्या पटतर छुवा चाम की।
विषम कमान समान विषय सुख काय कठौती नाम की।
जैसे चित्र नाग के माथे थिर मूरति चित्राम की।
चित्त चारहु करो प्रभु ऐसे लोय गुंठी परिनाम की।
कर्म बैरि अहनिसि छल जोवैं सुधि न परत पल जामकी।
ध्रुवर कैसे बनत विसारैं रटना पुरन रामकी॥

महाकवि ध्रुवरदास भगवान् के नाम स्मरण की महिमा बताते हुए संसारी जीव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तू सभी सांसारिक कार्यों को करने में उत्साह रखता है लेकिन भगवान् के नाम स्मरण के प्रति उदासीन है, अभावमान है। तू भगवान् के नाम स्मरण को छोड़ कर इस संसार में सुख प्राप्त करना चाहता है जो असम्भव है। जैसा कर्म किया है वैसा ही फल भोगना पड़ेगा। आक के पेड़ में आम नहीं लग सकते और कांच हीरा नहीं बन सकता। जैसे तू विषयों को भोगने के लिए व्याकुल रहता है, एक क्षण के लिये भी धैर्य धारण नहीं करता, रातदिन उन्हीं के सेवन में लगा रहता है। उसी प्रकार यदि भगवान् के नाम की जपे, उसी उत्साह से भगवान् की भक्ति करे तो इस संसार समुद्र से पार हो जाये --

सब विधि करन उतावला सुमरनकौं सीरा।
सुख चाहै संसार में यों होय न मीरा।

जैसे कर्म कमाव है सो ही फल वीरा ।
आम न लागें आक के नग होय न हीरा ।
जैसा विषयनि को चहै न रहै छिन धीरा ।
त्यों सुधर प्रभु को जपै पहुंचे भव तीरा ।।

महाकवि दौलतराम संसारी जीव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तू प्रत्येक घड़ी, प्रत्येक पल, रात-दिन, हर समय भगवान् का स्मरण कर । भगवान् के स्मरण से पाप नष्ट होते हैं और जन्म मरण के दुःख से छुटकारा मिलता है । मन, वचन, काय से प्रभु के चरणों में अपना ध्यान लगा तथा धर्म रूपी नाव पर चढ़ कर इस संसार समुद्र से पार उतर जा । धर्म-ध्यान से ही तुझे भवबन्धन से मुक्ति प्राप्त हो सकती है --

घड़ि घड़ि पल पल छिन छिन निश दिन प्रभुजी का सुमिरन करले रे ।
प्रभु सुमिरेतें पाप कटत हैं जनम मरन दुख हरले रे ।
मनवचकाय लगाय चरन चित ज्ञान दिये बिच धरले रे ।
दौलतराम धर्मनौका चढ़ि भवसागर ते तिरले रे ।

भगवान् के भजन की महिमा का वर्णन करते हुए कवि जगतराम कहते हैं कि भगवान् के भजन के समान उत्तम दूसरा कोई काम नहीं है । धर्म के अनेक अंग हैं, अनेक रूप हैं लेकिन उन सबमें भजन ही प्रमुख है । भजन से सब पाप नष्ट हो जाते हैं तथा संत समाज का समागम प्राप्त होता है । पुण्यों के भंडार भर जाते हैं तथा सभी सुख के साधन सहज प्राप्त हो जाते हैं । जैसे भूखे को भोजन प्रिय होता है उसी प्रकार भक्त को भजन प्रिय होता है । यह भजन कर्म रूपी ईंधन के लिये अग्नि के समान है और संसार समुद्र से पार उतरने के लिए जहाज के समान है । इन्द्र भी भगवान् के भजन की महिमा गाते हैं तथा इसी की कृपा से मुक्ति की प्राप्ति होती है --

भजन सम नहीं काज दूजो ।
धर्म अंग अनेक यामें एक ही सिरताज ।
करत जाके सुरत पातक, सुरत संत समाज ।

भरत पुण्य भण्डार भरतें, मिलत सब सुख साज ।
भक्त को यह इष्ट ऐसो, ज्यों दुखित को नाज ।
कर्म ईंधन को अगनि सम, भव जलधि को पाज ।
इन्द्र जाकी करत महिमा, कहो तो कैसी लाज ।
जगतराम प्रसाद याते, होत अविचल राज ।

पूजा-अर्चा

पूजा और अर्चा शब्द प्राय: एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। कुन्दकुन्द ने प्राकृत भक्तियों में `अर्चेमिपूजेमि` शब्दों का व्यवहार किया है ।

भक्ति या उपासना में पूजा-अर्चा को विशेष महत्व प्राप्त है । इसका प्रमुख कारण यही प्रतीत होता है कि पूजा में बाह्य आयोजन और कार्य-व्यापार का इतना अधिक वैविध्य होता है, कि भक्त का मन सहज ही उस ओर आकृष्ट होता है, उसमें रमता है । यही कारण है कि प्रत्येक धर्म में पूजा की अनेक पद्धतियों का विकास हुआ । जैन परम्परा में भी पूजा की विभिन्न पद्धतियां प्रचलित हैं ।

जैन आचार में गृहस्थ के षडावश्यकों का एक अन्य वर्गीकरण प्राप्त होता है जिसके अन्तर्गत १-देवपूजा, २-गुरु की उपासना, ३-स्वाध्याय, ४-संयम, ५-तप, ६-दान की गणना की जाती है । इस प्रकार पूजा की गणना श्रावक के दैनिक षट् कर्मों में प्रथम स्थान पर की गयी है ।

पूजा शब्द को भाषा-वैज्ञानिकों ने द्रविड़ शब्द `पूगे` से उत्पन्न माना है, जिसका अर्थ है `पुण्यकर्म `।

जैन परम्परा में पूजा का विकास चैत्यों के विकास के साथ-साथ हुआ प्रतीत होता है ।

बाह्य आडम्बरों से जब पूजा घिर गयी तो उनका समय-समय पर विरोध
जा और द्रव्यपूजा ऐसे दो भेद करके पूजा की सात्विकता की रक्षा
।

वैष्णव पूजा पद्धति ने जैनों को इतना अधिक अभिभूत और आक्रान्त कर लिया कि पूजा पद्धति में प्राय: वे सभी तत्त्व स्वीकार कर लिये गये जो वैष्णव पद्धति में सम्मिलित थे। आगे इन विषयों पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी विचार करेंगे।

समन्तभद्र ने पूजा को 'देवाधिदेव जिनेन्द्र के चरणों की परिचर्या कहा है।[४९]

यतिवृषभ ने पूजा में जल, गंध, तन्दुल, उत्तम मधुर नैवेद्य, दीप, धूप और फलों को भी शामिल किया है।[५०]

पूजा के मुख्य रूप से दो भेद हैं -- द्रव्य पूजा और भाव-पूजा। किसी न किसी द्रव्य से आराध्य के मूर्ति-बिम्ब आदि की पूजा करना द्रव्य-पूजा है और शुद्ध भाव से क्षायोपशमिकादि भाव के प्रतीक जिनेन्द्र को नमस्कार करना उनका ध्यान लगाना अथवा उनके गुणों का कीर्तन करना भाव-पूजा है। भेद इतना ही है कि भाव-पूजा में भगवान् को मन में स्थापित करना होता है जब कि द्रव्य-पूजा में भगवान का कोई न कोई चिह्न द्रव्य रूप में सामने उपस्थित रहता है। मन में निराकार भगवान् को उतारना कठिन काम है। इसलिए द्रव्य पूजा गृहस्थों के लिये और भाव-पूजा साधुओं के लिए निर्धारित की गयी है। पूजक के भावों के सम्बन्ध में दोनों में भेद नहीं है।

वसुनन्दि ने पूजा के छह भेद स्वीकार किये हैं -- नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। अर्हन्त आदि का नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेश में पुष्प क्षेपण करना नाम पूजा है। कीर्तन इसी में शामिल है। जिनेन्द्र, आचार्य और गुरुजन आदि के अभाव में उनकी तदाकार अथवा अतदाकार रूप से स्थापना कर जो पूजा की जाती है वह स्थापना पूजा है। भावपूजा का आलम्बन अतदाकार की स्थापना ही है। जल, गंध आदि अष्ट द्रव्यों से प्रतिमादि की जो पूजा की जाती है, उसे द्रव्य पूजा जानना चाहिए। भगवान् जिनेन्द्र के पंचकल्याणक और पंच परमेष्ठियों की

४९- रत्नकरण्ड०, का० ११९

५०- तिलोयपण्णत्ति, भाग २, ७।४९

स्मृति से चिह्नित स्थानों की पूजा करना क्षेत्र-पूजा है। जैन महापुरुषों की तिथियों पर उत्सव मनाना काल पूजा है। परमभक्ति के साथ जिनेन्द्र भगवान् के अनन्त चतुष्टय आदि गुणों का कीर्तन, ध्यान, जप और स्तवन भाव पूजा कही जाती है।

भक्ति का प्रयोजन

जैन धर्म में भक्ति का चरम लक्ष्य निश्रेयस माना गया है। आराध्य को प्रसन्न कर उससे वरदान प्राप्त करना या संसार के वैभव की कामना करना जैन भक्ति की अवधारणा में समाहित नहीं हो सकता, क्योंकि यहां आराध्य वीतराग है। राग के बिना अनुग्रह का भाव सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार जिनभक्ति के द्वारा दुष्टों का निग्रह या दमन की कामना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि यहां आराध्य तो वीतद्वेष है। राग-द्वेष के अभाव में आराध्य से अनुग्रह, निग्रह किसी भी प्रकार की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

फिर भक्ति की सार्थकता क्या है? आचार्यों ने इसका जो समाधान दिया है उसकी चर्चा यहां करेंगे।

समन्तभद्र ने लिखा है --

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ।।[१]

अर्थात् वीतराग होने से आपमें न तो पूजा से प्रयोजन है और न द्वेषरहित होने से निन्दा से। फिर भी आपके पुण्यगुणों की स्मृति पापों से चित्त को पवित्र करती है।

सिद्धसेन का कथन है कि जैसे तीव्र अग्नि के ताप से स्वर्णपाषाण चामीकर बन जाता है, उसी प्रकार जिनेश के ध्यान से जीव शरीर को छोड़ कर परमात्म दशा को प्राप्त करता है।[२]

वादिराज ने लिखा है कि मुक्ति के द्वार पर लगे हुए महामोह के कपाट के उद्घाटित करने के लिए भक्ति कुंजी के समान है[३]।

१- स्वयम्भूस्तोत्र, ५७

२- कल्याणमन्दिर, १५

३-एकीभाव, १३

जैसे धरती में गड़ा हुआ धन कुदाल से खोदे बिना प्राप्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्म रूप पृथ्वी-पटल से ढंकी हुई आत्मज्योति रूपी निधि भगवद् भक्ति के बिना प्राप्त नहीं हो सकती[४]।

पूज्यपाद ने लिखा है --

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम् ।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ।।[५]

जिनभक्ति अकेली भी भक्ति करने वाले के लिए दुर्गति को दूर करने, पुण्य बढ़ाने और मुक्ति-लक्ष्मी को देने में समर्थ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दृष्टि से भक्ति के फल को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है -- भक्ति से मन पवित्र होता है। मन की पवित्रता से पुण्य बन्ध होता है। पुण्य बन्ध से सद्गति, समृद्धि और सत्संगति प्राप्त होती है। सत्संगति से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है। यही मोक्ष मार्ग है। मोक्ष मार्ग से मोक्ष या निश्रेयस की प्राप्ति होती है।

यह इसका दार्शनिक पक्ष है। आलोच्य यह भी है कि जैन भक्ति पाप नाश, कष्ट निवारण और लौकिक समृद्धि के विषय में क्या कहती है।

जैन आचार्यों ने भक्ति के बदले लौकिक कामनाओं का निषेध तो किया है, किन्तु साथ ही यह भी कहा कि वृक्ष के नीचे बैठ कर वृक्ष से छाया की याचना थोड़े ही की जाती है, छाया तो स्वतः होगी।

इसी तरह मन्त्र जाप और स्तुति-स्तोत्रों के फल को व्यक्त करने के लिए जो दृष्टान्त--कथानक दिये गये हैं उनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भक्त लौकिक आकांक्षाओं की पूर्ति तथा कष्ट दूर होने के प्रति पूर्ण आश्वस्त है। शिवार्य ने अपने प्राकृत

४- एकीभाव, १५

५- समाधि भक्ति, ८

महाग्रन्थ भगवती आराधना में ऐसे अनेक सन्दर्भ दिये हैं जिनके कथानक वृहत कथाकोशमें दिये गये हैं।

समन्तभद्र ने रत्नकरण्डक में भी कई सन्दर्भ दिये हैं जो बाद के पुण्यास्रव कथाकोशों मेंविस्तृत कथानकों के रूप में पल्लवित हुए।

श्रीचन्द ने अपने अपभ्रंश कथाकोश में ऐसी कथाएं दी हैं।

संस्कृत के कवियों ने स्तुति-स्तोत्रों में भक्ति से पाप-नाश, विघ्नहरण, पुण्य संचय और समृद्धि की बात भी अनेक बार कही है।

जिन का उपासक जिनभक्ति में प्रवृत्त होता है, किन्तु वह यह जानता है कि भक्ति के बदले प्रभु से वरदान नहीं मांगना है। धनंजय लिखते हैं --

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्वरं न याचे त्वमुपेक्षको ऽसि।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्कश्छायया याचितयात्मलाभः ।।[६]

हे देव! इस प्रकार स्तुति करके मैं दीनभाव से वरदान नहीं मांगता, क्योंकि आप उपेक्षक--रागद्वेष से रहित हैं। परन्तु वृक्ष का आश्रय लेने वाले को वृक्ष से छाया मांगनी नहीं पड़ती (कि हे वृक्ष! तुम मुझे छाया दो) छाया तो उसे स्वयं प्राप्त हो जाती है।

मानतुंग कहते हैं कि हे नाथ जिस तरह सूर्य की किरणों द्वारा रात्रि का समस्त अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी तरह आपके स्तोत्र से प्राणियों के अनेक भवों के बन्धे हुए पाप-कर्म नष्ट हो जाते हैं।[७]

सिद्धसेन लिखते हैं --

६- विषापहार, श्लो० ३८

७- त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं, पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु, सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ।। --
भक्तामरस्तोत्र, श्लो० ७

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र, रौद्रैरुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि ।
गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः ।।[८]

अर्थात् हे नाथ ! जिस प्रकार तेजस्वी मालिक के दिखते ही चोर चुराई हुई गायों को छोड़ कर शीघ्र ही भाग जाते हैं, उसी तरह आपके दर्शन होते ही अनेक भयंकर उपद्रव मनुष्यों को छोड़ कर भाग जाते हैं ।

अन्यत्र वे लिखते हैं कि हे जिनेन्द्र ! जिस तरह मयूर के आते ही चन्दन वृक्ष में लिपटे हुए सांप ढीले पड़ जाते हैं, उसी तरह जीवों के हृदय में आपका ध्यान आने पर उनके बड़े-बड़े कर्मबन्धन क्षण भर में ही ढीले हो जाते हैं ।[९]

जयसेन का कहना है कि तीर्थंकर आदि प्रत्येक बुद्ध महापुरुषों में अन्य के उपदेश बिना ही संयम के विविध रूप स्वयं प्रकट हो जाते हैं । वे स्वयं दीक्षित होने वाले अत्यन्त प्रशंसनीय हैं तथा उनका थोड़ा-सा स्मरण करने से ही हमारे पापों का नाश होता है ।[१०]

धनंजय भगवान् को पुण्य का हेतु बताते हुए कहते हैं -- हे भगवन् ! आप तीन लोक के स्वामी हैं, आपका कभी विनाश नहीं होता, सर्वोत्कृष्ट हैं, केवलज्ञान-रूप ज्योति से प्रकाशमान हैं, आप में अनन्त बल है, आप स्वयं पुण्य पाप से रहित हैं पर भक्त जनों के पुण्यबन्ध में निमित्त कारण हैं, आप किसी को नमस्कार नहीं करते पर सब लोग आपको नमस्कार करते हैं । मैं भी आपको नमस्कार करता हूँ ।[११]

८- कल्याणमन्दिर स्तोत्र, श्लो० १६

९- हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिली भवन्ति, जन्तोः क्षणेन निबिड़ा अपि कर्मबन्धाः
सद्यो भुजंगममया इव मध्यभागमभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ।।--
--कल्याणमन्दिरस्तोत, श्लो० ८

१०-अन्योपदेशविरहेऽपि सुसंयमस्य, चारित्रकोटि विधयः स्वयमुद्भवन्ति ।
प्रत्येकबुद्धमतयः खलु ते प्रशस्यास्तेषां मनाक् स्मरणतो मम पापनाशः ।।--
-- जयसेन प्रतिष्ठापाठ, ६७२

मानतुंग का तो यहां तक कहना है कि स्तवन तो दूर, कथा भी पापनाशक है --

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ।।[१२]

प्रभो ! आपके निर्दोष स्तवन में तो अनन्त शक्ति है ही पर आपकी पवित्र कथा-चर्चा भी जगत के जीवों के पापों को नष्ट कर देती है । जैसे सूर्य दूर रहता है पर उसकी उज्ज्वल किरणें ही तालाबों में कमलों को विकसित कर देती हैं ।

इसी प्रकार सिद्धसेन ने भी नाम को दुःख निवारक कहा है --

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन संस्तवस्ते नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।
तीव्रातपोपहतपान्थ जनान्निदाघे प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ।।[१३]

हे देव ! आपके स्तवन की तो अचिन्त्य महिमा है ही पर आपका नाम मात्र भी जीवों को संसार के दुःखों से बचा लेता है । जैसे ग्रीष्म ऋतु में तीव्र घाम से सताये हुए मनुष्यों को कमलयुक्त तालाब तो सुख पहुंचाते हैं पर उन तालाबों की शीतल हवा भी सुख पहुंचाती है ।

जिनचतुर्विंशतिका में आचार्य कहते हैं कि --

किसलयितमनल्पं त्वल्लिलोकाभिलाषात्कुसुमितमतिमात्रं त्वत्समीपप्रयाणात् ।
मम फलितमभन्द्रं त्वन्मुखेन्दोरिदानीं, नमनपथमनाप्तैव पुण्यद्रुमेण[१४] ।।

हे भगवान् आपके दर्शन की इच्छा से पुण्य रूपी वृक्ष लहलहा उठता है । आपके पास जाने से उसमें फूल लग जाते हैं । आपका साक्षात् दर्शन पा लेने पर उसमें फल लग जाते हैं । आपका दर्शन अत्यन्त पुण्य का कारण है ।

११- ततस्त्रिलोकी-नाराधितेयं नित्यं परं ज्योतिरनंतशक्तिम् ।
अपुण्यपापं परपुण्यहेतुं नमाम्यहं वन्द्यमवन्दितारम् ।।-- विषापहारस्तोत्र, श्लो०३३

१२- भक्तामरस्तोत्र, ६

१३- कल्याणमन्दिर, ७

१४- जिनचतुर्विंशतिका, श्लो० १३

इस प्रकार जैन मनीषियों के समक्ष साहित्य रचना का प्रमुख उद्देश्य मानव के आध्यात्मिक विकास एवं सामाजिक जीवन के उन्नयन का रहा है। इसके लिए उन्हें अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की रचनाएं आदर्श रूप में प्राप्त हुईं। पूर्ववर्ती आचार्यों ने आध्यात्मिक विकास के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय का मार्ग बतलाया तथा जीवन के उन्नयन के लिए एक विशिष्ट आचारसंहिता का प्रतिपादन किया जिससे वह पाप प्रवृत्तियों से बचे और पुण्य प्रवृत्तियों में अपने आपको लगाये। भक्ति इस प्रकार की पुण्य-प्रवृत्तियों में लगने का एक माध्यम है।

राग-द्वेष से रहित शुद्धात्मा अर्थात् वीतरागी भगवान् न कर्ता है और न भोक्ता। पहले लिखा जा चुका है कि जैन आचार्यों की यह मान्यता है कि वीतरागी भगवान् की पूजा-वन्दना से कोई तात्पर्य नहीं है, क्योंकि वे सभी रागों से रहित हैं। निन्दा से भी उनका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि उनमें से वैर-भाव निकल चुका है। फिर भी उनके पुण्य गुणों का स्मरण भक्त के चित्त को पाप-मलों से पवित्र करता है।

पूज्यपाद ने लिखा है कि जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न तथा कल्पवृक्ष आदि अचेतन हैं, तो भी पुण्यवान पुरुषों को उनके पुण्योदय के अनुसार फल देते हैं। उसी प्रकार भगवान् अरहन्त या सिद्ध के राग-द्वेष रहित होने पर भी भक्तों को उनकी भक्ति के अनुसार फल प्राप्त होता है।[१५]

'पुण्यगुण के स्मरण' से भाव कैसे पवित्र होते हैं इसका समाधान जैन कर्म सिद्धान्त में दिया गया है। शुभ और अशुभ के भेद से कर्म दो प्रकार के होते हैं। दोनों का आस्रव मन, वचन, काय की क्रिया से होता है। जब यह क्रिया शुभ होती है, तब शुभ कर्म और जब अशुभ होती है, तब अशुभ कर्मों का आस्रव होता है।[१६] भगवान् जिनेन्द्र में अनुराग करना, एक शुभक्रिया है। अतः उससे शुभ कर्मों का बन्ध होगा।

१५- पूज्यपाद, दशभक्त्यादिसंग्रह, पृ० ५६

१६- उमास्वाति, तत्वार्थसूत्र, पृ० १४०

समन्तभद्र ने लिखा है कि स्तुति के समय स्तुत्य चाहे प्रस्तुत रहे या न रहे, फल की प्राप्ति भी सीधी उसके द्वारा होती हो या न होती हो, परन्तु साधु स्तोता की स्तुति, कुशल-परिणाम की कारण अवश्य है। वह कुशल-परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्य-विशेष श्रेय फल का दाता है।[१७]

वसुनन्दि ने अपने प्राकृत ग्रन्थ उवासयाज्झयण में लिखा है कि अरहन्त-भक्ति आदि पुण्यक्रियाओं में, शुभ उपयोग के होने से पुण्य का आस्रव होता है, और इसके विपरीत अशुभोपयोग से पाप का आस्रव होता है, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।[१८] सभी प्रकार की सांसारिक ऋद्धि-सिद्धियां, चक्रवर्ती और इन्द्र का वैभव, सब पुण्य-कर्म से उपलब्ध होते हैं।

जैन मनीषियों ने सैद्धान्तिक दृष्टि को इस विषय में बहुत स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है और सावधान किया है कि पुण्योपार्जन अन्तिम लक्ष्य नहीं है। वह भी एक प्रकार का कर्म-बन्धन ही है। कुन्दकुन्द ने अपने प्राकृत ग्रन्थों में लिखा है कि पुण्य भोग का निमित्त है, कर्म-क्षय का नहीं।[१९]

पाप और पुण्य दोनों ही संसार के कारण हैं। जोइन्दु ने भी पुण्य को मोक्ष का कारण नहीं माना।[२०]

प्राकृत की सभी भक्तियों के अन्त में भक्ति के फल को इस प्रकार व्यक्त किया गया है --

दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं।
समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं॥

१७- समन्तभद्र, स्तुतिविद्या, पृ० १६

१८- वसुनन्दि श्रावकाचार, गा० ४०

१९- भावपाहुड, गा० ८४

२०- परमप्पयासु, दो० ५७, ६०

मेरे दुःखों का नाश हो, कर्म क्षय हों, बोधिलाभ हो, सुगति गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र के गुणों की सम्पत्ति प्राप्त हो।

यहां यह महत्वपूर्ण है कि भक्ति मात्र पुण्यार्जन का कारण नहीं है। वह सम्यग्दर्शन का भी हेतु है। इसलिए भक्ति साक्षात् मोक्ष का कारण न भी हो पर उसे परम्परया मोक्ष का हेतु माना गया है। कुन्दकुन्द ने एक स्थान पर लिखा है कि निर्वेद-परम्परा का चिन्तवन करने वाले, ध्यान में रत और सुचरित्र, देव-गुरुओं के भक्त मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।[२१]

समन्तभद्र ने जिनेन्द्र की भक्ति से स्वालय अर्थात् मोक्ष में विराजित होने की बात लिखी है[२२]।

पुज्यपाद की भक्तियों में, भक्ति से मोक्ष प्राप्त करने का वर्णन, स्थान स्थान पर हुआ है। सिद्ध की वन्दना करते हुए उन्होंने लिखा, 'बतीस दोषरहित कायोत्सर्ग को करके, जो अत्यन्त भक्तिसहित, शुद्धात्मस्वरूप भगवान् सिद्ध की वन्दना करता है वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[२३] शान्ति-भक्ति के एक पद्य में, उन्होंने भगवान् जिनेन्द्र के चरण-कमल-युगल की स्तुति को एक ऐसी नदी माना है जिसके शीतल जल से कालोदग्रदावानल उपशम हो जाता है। इसी भक्ति के एक दूसरे पद्य में भगवान् के चरणों की स्तुति से मोक्ष-सुख पाने की बात लिखी है।[२४] समाधि-भक्ति में तो उन्होंने स्पष्ट ही कहा है, 'भगवान् जिनेन्द्र की एकाकी भक्ति ही समस्त दुर्गतियों को दूर करने, पुण्यों को पूर्ण करने और मोक्ष लक्ष्मी को देने के लिए समर्थ है।[२५]

२१- मोक्षपाहुड़, गा० ५२

२२- स्तुतिविद्या, पृ० १४१

२३- दशभक्त्यादिसंग्रह, पृ० ११२

२४- वही, शान्तिभक्ति, पृ० १७७

२५- वही, समाधिभक्ति, पृ० १८५

शिवार्य ने भगवती आराधना में लिखा है, कि जैसे अरहन्त भक्ति को कल्याणकारिणी कहा, वैसे ही सिद्ध भगवान् में तथा अरहन्त के प्रतिबिम्ब में, सर्वजीवों के उपकारक स्याद्वाद रूप जिनेन्द्र के परमागम में, आचार्य उपाध्याय में तथा सर्व साधु में तीव्र-भक्ति संसार को छेदने में समर्थ है।[२६] एक दूसरे स्थान पर उन्होंने कहा है, "जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति दुर्गति निवारण करने में समर्थ है"।[२७]

हिन्दी के जैन कवि उक्त प्रवृत्तियों से पूर्णतया अवगत और सम्पृक्त हैं। एक ओर उनके पदों में प्रभु से जहां वर मांगने या अन्य किसी भी प्रकार की लौकिक आकांक्षा का निषेध है, वहीं पर वह यह भी कहता है कि प्रभु आप तो पतितपावन हैं, अनेक पतितों का उद्धार किया है, मेरा भी उद्धार कीजिये।

भक्त यह भी कहता है कि आप तो दीनदयाल कहलाते हैं इसलिए मुझ दीन का उद्धार कीजिये।

इस प्रकार की विनय और दैन्य प्रकट करने के साथ ही वह यह भी कह देता है कि हमारी दीनता यही है कि आप तो मुक्ति में जा कर बैठ गये और मैं यहां संसार में रुल रहा हूं। द्यानतराय लिखते हैं --

प्रभु तुम कहियत दीनदयाल।
आपन जाय मुकति में बैठे हम जो रुलत जगजाल।
भले बुरे हम भगत तिहारे जानत हो हम चाल ।।

दौलतराम कहते हैं कि मुझे दुखिया समझ कर मेरी सुधि लीजिये। उसका दुःख यही है कि संसार में कर्मों ने उसकी स्थिति ऐसी कर रखी है कि उसे याद करने से करोड़ों कटारियों के चुभने का दुःख होता है --

सुधि लीजो जी म्हारी मोहि भव दुख दुखिया जान के।
जो विधि अरी करी हमरी गति सो तुम जानत सारी।
याद किये दुख होत हिये ज्यों लागत कोटि कटारी ।।

२६- भगवती आराधना, पृ० ३०२
२७- वही।

एक अन्य पद में द्यानतराय कहते हैं कि आपने सीता सती पर दया करके सांप को फूलों की माला कर दिया, मेरी बारी आने पर क्यों ढील कर रहे हो। मैं तो कुछ मांग नहीं रहा, बस वैराग्य दशा कर दीजिए --

मेरी बार कहा ढील करी जी।
सांप कियौ फूलन की माला सीता पर तुम दया धरी जी।
द्यानत मैं कछु जांचत नाही कर वैराग्य दशा हमरी जी॥

जैन धर्म का मूलाधार है मुक्ति। जैनों के आराध्य वे परमात्मा हैं, जिन्होंने 'कर्ममलीमस' को दूर कर मुक्ति प्राप्त कर ली है। कर्मों से पूर्णतया छुटकारा पा लेना ही मुक्ति है।[२८]

हिन्दी के जैन भक्त कवियों ने अपने भगवान् से मुक्ति की याचना की है। कर्मों से मुक्त हुई आत्मा जिनेन्द्र है और वह ही मुक्ति है। अतः मुक्ति की याचना में भक्त के जिनेन्द्रमय होने का भाव है। भक्त सदैव अपने आराध्य की इस महिमा से अनुप्राणित होता रहा है। जब द्यानतराय ने यह कहा कि, 'जो तुम मोख देत नहिं हमको, कहां जाय किहिं डेरा'[२९], तो उसमेंभी अपने भगवान् की महिमा की ही बात है।

कवि बनारसीदास ने तो यहां तक लिखा कि भगवान् जिनेन्द्र से मुक्ति की याचना की आवश्यकता नहीं है, उनके चरणों का स्पर्श करने से वह तो स्वतः ही प्राप्त हो जाती है, 'जगत में सो देवन को देव। जासु चरन परसें इन्द्रादिक, होय मुकति स्वयमेव।'[३०]

जैन और वैष्णव दोनों ही भक्त कवियों ने ज्ञान की अनिवार्यता स्वीकार की है। तुलसी ने लिखा है कि ज्ञान के बिना इस संसार रूपी समुद्र को कोई पार नहीं कर सकता --

---

२८- बन्धहेत्वभाव--निर्जराभ्यां कृत्स्न--कर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।--तत्वार्थसूत्र, १०।२

२९- द्यानतपद संग्रह, पद ५

३०- बनारसीविलास, पद १५

बिनु विवेक संसार घोर निधि, पार न पावै कोई ।[३१]

कवि बनारसीदास ने भी ज्ञान के बल पर ही संसार से तरने की बात कही है --

बनारसीदास जिन उकति अमृत रस,
सोई ज्ञान सुने तु अनन्त भव तरिहै ।[३२]

जैन कवियों का भक्ति से ज्ञान की उत्पत्ति में सतत विश्वास रहा है। कवि बनारसीदास ने लिखा है कि भगवान् जिनेन्द्र के यश का वर्णन करने से ज्ञान का प्रकाश छिटक जाता है और मलिन बुद्धि निर्मल हो जाती है --

जाकौ जस जपत प्रकास जो हिरदे मैं,
सोइ सुद्धमति होइ हुती जु मलिन सी ।[३३]

धानतराय ने भी 'सर्व चिन्ता गई बुद्धि निर्मल भई, जबहि चित्त लाल चरननि लगायो ।'[३४] के द्वारा भगवान् के चरणों में चित्त लगाने से बुद्धि का निर्मल होना लिखा है।

जैन कवियों ने भक्ति के साथ-साथ स्वानुप्रयास को भी महत्ता प्रदान की है। कवि बनारसीदास का कथन है कि यह जीव अपने निजी प्रयास से ही ज्ञान को प्राप्त करता है और खोता है --

आपु सभारि लखै अपनौ पद, आपु विसारि के आपुहि मोहै ।
व्यापक रूप यहै घट अंतर, ग्यान में कौन अज्ञान में को है ।[३५]

माया अज्ञान की प्रतीक है। उसके विषय में भी यही बात है। तुलसीदास ने, 'माधव असि तुम्हारी यह माया, करि उपाय पचि मरिय, तरिय नहिं, जब लगि

३१- विनयपत्रिका, प्रार्थना, पद ११५
३२- ज्ञानबावनी, बनारसी विलास, पद्य २०
३३- नाटकसमयसार, पृ० ४६८
३४- धानतपद संग्रह, पद ११
३५- नाटक समयसार, पृ० १३

करहु न दाया ।[३६] मैं रघुपति की दया के बिना माया का दूर होना असम्भव माना है। जैन कवि घुघर दास ने भगवन्त भजन से ही मोह पिशाच का नाश होना स्वीकार किया है --

मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निज कर कंध वसूला रे ।
भज श्री राजमतीवर घुघर, दो दुरमति सिर धूला रे ।।
भगवंत भजन क्यों भूला रे ।[३७]

किन्तु अनेक स्थानों पर जैन कवियों ने यह भी स्वीकार किया है माया न तो भगवान् की चेली हुई है और न भगवान् की कृपा से दूर ही हो सकती है। इसे तो मनुष्य मोहनीय कर्म का नाश करके ही जीत पाता है। बनारसीदास की दृष्टि में मायारूपी बेलि को उखाड़ने में केवल ज्ञानी आत्मा ही समर्थ है। उन्होंने आत्मा को योद्धा कहते हुए लिखा है --

माया बेली जेती तेती रेतैं मेंवारेती सेवी ।
फंदा ही की कंदा खोदे खेती को सो जोधा है ।[३८]

जैन कवि भगवतीदास 'भैया' का कथन है कि कायारूपी नारी में चिदानन्दरूपी राजा राज्य करता है। वह मायारूपी रानी में मग्न रहता है। जब उसका सत्यार्थ की ओर ध्यान गया, तो ज्ञान उपलब्ध हो गया और माया की विभोरता दूर हो गयी --

काया सी जु नारी में चिदानन्द राज करै
माया सी जु रानी पै मगन बहु भयो है ।
ऐसी राजधानी में अपने गुण भूलि रह्यो,
सुधि जब आई तबै ज्ञान आप गह्यो है ।[३९]

३६- विनयपत्रिका, तुलसीदास, १२६ वां पद
३७- घुघरविलास, पद १६वां
३८- नाटकसमयसार, पद्य ३
३९- ब्रह्मविलास, पृ० १४

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्राकृत के ग्रन्थों में भक्ति का जो प्रयोजन प्रतिपादित किया गया वही संस्कृत और अपभ्रंश ग्रन्थों में अविच्छिन्न रूप से गृहीत हुआ ।

हिन्दी के जैन कवियों को भी वह परम्परया प्राप्त हुआ । इसलिए उन्होंने भी अपने साहित्य में, पदों में भक्ति का चरम लक्ष्य स्वात्मोपलब्धि या मुक्ति को ही माना । पापों का नाश, विघ्नों का नाश, पुण्योपार्जन आदि सब आनुषंगिक फल हैं । उन्हें भक्ति का उद्देश्य या प्रयोजन नहीं माना जा सकता ।

इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैन कवियों के हिन्दी पदों में वीतराग जिन भी कर्तृत्व से अछूता नहीं रहा । उसके ऊपर भी भक्तों को दुःखों से मुक्त करने और संसार से पार उतारने का दायित्व आ ही गया । वह कुछ करे या न करे भक्त को यह विश्वास है कि प्रभु के स्मरण से विघ्न समूह नष्ट हो जायेंगे । इसलिए किसी भी प्रकार का कष्ट आने पर वह भगवान् का स्मरण करता है । किन्तु सम्भवतया यह प्रवृत्ति भी हिन्दी कवियों ने युगीन प्रभावों से नहीं प्रत्युत अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से ही ग्रहण की क्योंकि उन्होंने भी आराध्य में प्रकारान्तर से कर्तृत्व का आरोप किया है । यहां तक कहा गया कि जिनेन्द्र की स्तुति करने से विघ्नसमूह नष्ट हो जाते हैं, शाकिनि, भूत और सर्प प्रभाव हीन निर्विष हो जाते हैं --

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति, शाकिनिभूतपन्नगाः ।
विषं निर्विषतां यान्ति, स्तूयमाने जिनेश्वरे ।।

सम्भवतया भक्ति तत्व का यह एक अनिवार्य अंग है या दूसरे शब्दों में विवशता है कि आराध्य की महत्ता को अभिव्यक्त करने के लिए उसमें कर्तृत्व का आरोप किया जाये । भागवद्भक्ति तो उससे इतनी अधिक परिव्याप्त या आक्रान्त हो गयी कि वहां आराध्य स्वयं ही भक्त से कहने लगा कि चिन्ता की कोई बात नहीं, तुम सब छोड़ कर मेरी शरण में आ कर जाओ, मैं तुम्हें सभी पापों से छुटकारा दे दूंगा --

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।[४०]

भक्ति की इससे बड़ी उपलब्धि क्या हो सकती है कि आराध्य भक्त के लिए समर्पित हो जाये, किन्तु दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि इससे बड़ी और क्या विडम्बना हो सकती है कि भक्त व्यक्ति का व्यक्तित्व ही विसर्जित हो जाए ।

किन्तु यह एक सैद्धान्तिक पक्ष है । जहां अनन्यता, अद्वैतानुभूति ही भक्ति का चरम लक्ष्य हो, वहां तो यह ठीक कहा जा सकता है, किन्तु जहां स्वात्मोपलब्धि भक्ति का प्रयोजन हो वहां आराध्य में कर्तृत्व का आरोप आगन्तुक ही माना जाना चाहिए । जैनाचार्यों के दार्शनिक चिन्तन की यह धार्मिक पराजय कही जानी चाहिए कि उन्होंने वीतरागी जिन में कर्तृत्व को आरोपित किया । तथापि ~~जिन में कर्तृत्व को~~ भक्ति के क्षेत्र में जैन परम्परा की यह एक अपूर्व देन है कि आराध्य के प्रति सम्पूर्ण समर्पण, विनय, श्रद्धा और शरणागति के बाद भी वहां व्यक्तित्व का विसर्जन नहीं, व्यक्तित्व का विकास ही भक्ति का उद्देश्य माना गया है ।

४०- श्रीमद्भगवद्गीता, १८।६६